60/1-2

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ
1	अध्यात्मपद	पण्डितप्रवर दौलतराम जी	1
2	सम्पादकीय		2
3	मोक्षमार्ग में वन्द्य और अवन्द्य एक चिन्तन	डॉ. श्रेयांसकुमार जैन	5
4	जैन संस्कृत पुराणों में वर्णाश्रम धर्म	डॉ. अशोक कुमार जैन	13
5	अहिंसा और अपरिग्रह की प्रासंगिकता	नीरज जैन	23
6	मनराम कृत बारहखड़ी काव्य 'गुरु अक्षरमाला'	डॉ. गंगाराम गर्ग	27
7	भाषा विकास एवं अपभ्रंश	सुरजमलराव SRI	34
8	चांदखेड़ी का विचित्र "जैन मंदिर"	ललित शर्मा	47
9	चन्द्रगुप्त मौर्य व उनकी कृति सुदर्शन झील	प्रतिष्ठाचार्य संदीप कुमार जैन	53
10	रत्नत्रय शास्त्र एवं अध्यात्मयोगी मुनि श्री विशुद्धसागर जी	प्राचार्य पं. निहालचन्द जैन	61
11	वैदिक और श्रमण संस्कृति में आदान-प्रदान एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया	डॉ. कमलेश कुमार जैन	70
12	श्रावकाचारों में वर्णित सल्लेखना - विधि एवं साधक	डॉ. जय कुमार जैन	76
13	पचास वर्ष पूर्व नयों का विश्लेषण	पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य	86
14	संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश साहित्य में वर्णित तीर्थंकर पार्श्वनाथ चरित	डॉ. हुकमचन्द जैन	103
15	जैन परम्परा में भक्ति की अवधारणा	डॉ. अशोक कुमार जैन	109
16	पाठकीय प्रतिक्रिया	पं. रतनलाल बैनाड़ा	125
17	समीक्षा	डॉ. जयकुमार जैन	127

वर्ष-60, किरण-1-2

जनवरी-जून 2007

सम्पादक :

डॉ. जयकुमार जैन

429, पटेल नगर

मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

फोन (0131) 2603730

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-

अनेकान्त वार्षिक शुल्क 30/-

इस अंक का मूल्य 10/-

सदस्यों व मंदिरों के लिए निःशुल्क

प्रकाशक

भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :

मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हों।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

अध्यात्म-पद

छांड़ि दे या बुधि भोरी

छांड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तन से रति जोरी।

यह पर है न रहै थिर पोषत, सकल कुमल की झोरी।
यासौं ममता कर अनादितैं, बंधो कर्म की डोरी।

सहै दुख जलधि हिलोरी, छांड़ि दे या बुधि भोरी।।1।।

यह जड़ है तू चेतन, यौं ही अपनावत बरजौरी।
सम्यकदर्शन ज्ञान चरण निधि, ये हैं संपत तोरी।
सदा विलसौ शिवगोरी, छांड़ि दे या बुधि भोरी।।2।।

सुखिया भये सदीव जीव जिन, यासौं ममता तोरी।
'दौल' सीख यह लीजे पीजे, ज्ञानपीयूष कटोरी।

मिटै परवाह कठोरी, छांड़ि दे या बुधिभोरी।।3।।

– पण्डितप्रवर दौलतराम जी

सम्पादकीय

जैन अध्ययन एवं अनुशीलन केन्द्रों की आवश्यकता

प्राचीनकाल के प्रमुख धर्मों में जैन धर्म का विशिष्ट स्थान है। यह धर्म कितना प्राचीन है, इसके विषय में लोगों को प्रायः ज्ञात नहीं हैं। वेदों में ऋपभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि जैसे तीर्थकरों के नाम प्राप्त होते हैं। मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में कुछ योगियों की प्रतिमायें प्राप्त हुई है, जो कि नग्न अवस्था में हैं। कायोत्सर्ग मुद्रा जैन योगियों की विशिष्ट मुद्रा है, जो आज भी तीर्थकरमूर्तियों में परिलक्षित होती है। भागवत पुराण तथा अन्य हिन्दू पुराणों में जैन तीर्थकर ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। इसका उल्लेख प्रायः हिन्दू पुराणों में उपलब्ध है। इससे पूर्व इस देश का नाम ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकरों तथा अनगिनत सिद्धपुरुषों और मुनियों की लम्बी परम्परा रही है। आज भी दिगम्बर मुद्राधारी निष्परिग्रही जैन साधु पूरे देश में पदविहार कर जनता को धर्मोपदेश देकर समाज के नैतिक और चारित्रिक उत्थान में योगदान रहे हैं। इनके अहिंसा, अनेकान्त, सत्य, अपरिग्रह, जैसे उपदेशों ने महात्मा गांधी को भी प्रभावित किया है। ये उपदेश भारत के स्वतन्त्रता के मौलिक सूत्र बने थे।

जैन एक स्वतन्त्र दर्शन है। यह सृष्टिकर्ता ईश्वर प्रणीत धर्म न होकर उन महामानवों के द्वारा उद्घाटित धर्म है, जिन्होंने अपने त्याग, तप और पुरुषार्थ के बल पर पूर्णता को प्राप्त किया था। आतंकवाद और हिंसा से पीड़ित विश्व को जैन धर्म सही राह और त्राण दे सकता है। इसकी इसी उपयोगिता को ध्यान में रखकर भारत के प्रमुख विश्वविद्यालयो-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत

विश्वविद्यालय वाराणसी, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर, जैन विश्व भारती लाडनूँ, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला, उत्कल संस्कृति विश्वविद्यालय भुवनेश्वर, रामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय जयपुर, लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ देहली, मैसूर विश्वविद्यालय, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, अवधेश प्रताप-सिंह विश्वविद्यालय, रीवा आदि में जैन विद्याओं का अध्ययन एवं शोधकार्य हो रहा है।

एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलाजी अहमदाबाद, पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी, वीर सेवा मन्दिर नई दिल्ली, गणेशवर्णी शोधसंस्थान वाराणसी, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ इन्दौर, प्राकृत एवं जैनविद्या शोध संस्थान वैशाली, कुन्दकुन्द भारती देहली, जैन विद्या शोध संस्थान महावीर जी, इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत स्टडीज एण्ड रिसर्च श्रवणबेलगोला, रमारानी इन्स्टीट्यूट मूडबद्री, श्रमण संस्कृति संस्थान सांगानेर आदि केन्द्रों में विधिवत् जैन विद्याओं का अ ध्ययन एवं अनुशीलन हो रहा है। अनेक जैन विद्यालयों/पाठशालाओं की भूमिका भी जैन शिक्षा के विकास में महत्त्वपूर्ण रही है। इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर लन्दन विश्वविद्यालय ने जैन स्टडीज सेन्टर की स्थापना की है।

भारत के अनेक विश्वविद्यालयों के संस्कृत, प्राकृत, इतिहास, दर्शन, कला, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा विविध प्रान्तीय भाषा विभागों के निष्णात विद्वानों के मार्गदर्शन में लगभग एक हजार शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। जर्मन के विश्वविद्यालयों में प्राकृत तथा अपभ्रंश पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य हुए हैं। जैन आगम साहित्य का हिन्दी अनुवाद हो गया है, कन्नड़ अनुवाद का कार्य प्रारम्भ हो चुका है। जैन ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रारम्भ हो चुका है। आज की यह अनिवार्य आवश्यकता हो गई है कि देश-विदेश के सभी विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में जैन दर्शन और साहित्य की शिक्षा दी जाये। प्राकृत, अप्रभ्रंश, प्राचीन कन्नड़, तमिल, गुजराती एवं हिन्दी के क्रमिक

विकास की जानकारी हेतु जैन वाङ्मय का अध्ययन आवश्यक है।

श्रमण जैन संस्कृति की सम्पूर्ण धरोहर हमारे आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्रों में सुरक्षित है। जैन समाज यों तो उत्सवों में अति उत्साह से तन-मन और धन से सहभागिता करता है, परन्तु इस महत्त्वपूर्ण विधा के उन्नयन और विकास में 20वीं शताब्दी में जिन संस्थाओं की स्थापना हुई और उनसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए, उनकी गति अब मन्थर हो चुकी है। चर्चा तो बहुत होती है, चिन्ता भी व्यक्त की जाती है; लेकिन अपेक्षित कार्य की दिशा में सक्रियता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। अतः हम सभी का यह पुनीत कर्तव्य बनता है कि हम श्रुतपंचमी पर मात्र श्रुत-आराधना ही न करें, अपितु उसके उद्धार के लिए भी सक्रिय भागीदारी की मानसिकता विकसित कर उसे गति प्रदान करने में आगे आवें।

आज के वैश्विक परिदृश्य में अहिंसा की जितनी आवश्यकता महसूस की जा रही है, उसका अहसास हमें इस बात से हो जाना चाहिए कि महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति ने सत्य, अहिंसा को व्यावहारिक सूत्र प्रदान कर न केवल देश को स्वतन्त्र कराया था, अपितु विश्व को एक जीवन जीने की दिशा भी तय की थी। इस समय गांधी जयन्ती को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर **अहिंसा दिवस** के रूप में मनाये जाने की घोषणा हो चुकी है। अतः सत्य, अहिंसा के पुजारियों को उसके प्रचार-प्रसार में सक्रिय भागीदारी करनी ही चाहिए।

– डॉ० जयकुमार जैन

मोक्षमार्ग में वन्द्य और अवन्द्य
एक चिन्तन

-- डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

भारतीय दार्शनिक परम्परा में मोक्ष सर्वमान्य तत्त्व है। इसके प्राप्ति के उपायों में वैमत्य है, किन्तु जैनाचार्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को ही मोक्ष का मार्ग-उपाय कहते हैं।[1] ये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय हैं। जो इनको धारण करता है वह मोक्षमार्गी है। आचार्य कुन्दकुन्द मार्ग और मार्गी का अभेद करके मार्गी को ही मार्ग रूप में स्वीकार करते हैं-

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।।10।।सूत्रपाहुड

वस्त्र मात्र का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण करना और दिन में एक बार खडे होकर हाथ में भोजन करना ही जिनेन्द्र भगवान् ने मोक्षमार्ग कहा है, शेष मुद्रा अमार्ग हैं, मोक्षमार्ग नहीं है।

ऐसा ही और भी कहा है।[2] आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने मुख्यतः तो मुनि को ही मोक्षमार्गी मुमुक्षु कहा है।[3] गृहस्थ को भी मोक्षमार्गस्थ स्वीकार किया है।[4] इसीलिए पंडित दौलतराम ने मोक्षमार्गी को उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार से वर्णित किये हैं।[5]

मोक्षमार्ग में आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रथम लिंग जिनरूप (दिगम्बर मुनि), द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक और तीसरा लिंग आर्यिकाओं का कहा है।[6] इन्ही की वन्दना विधि पर विचार किया है। वन्दना विधि के अन्तर्गत विनय वाचक णमोत्थु, णमो, वंदेमि, वंदामि, इच्छायार, 'प्राकृत शब्द तथा नमोस्तु, नमः, नमामि, वंदामि, वन्दन, इच्छामि, इच्छाकार आदि संस्कृत शब्दों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द

साहित्य में और अन्य प्राचीन ग्रन्थों में पंचपरमेष्ठियों को वंदामि, वंदेमि, णमोत्थु पदों से नमन किया गया है। आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को अरिहंत, सिद्ध, श्रुत आदि के समान ही विनय प्रगट की गई है। परिग्रहधारी कोई भी हो चाहे आर्यिका हो या श्रावक श्राविका उन्हें इच्छाकार से विनय प्रगट की गई है। लोक में देव, मानव, दानव से आरम्भ परिग्रहरहित संयमी ही पूज्य माना गया है।[7]

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने यह बताया है कि किसके साथ किस प्रकार की विनय की जाय, किसको क्या शब्द विनय में प्रयुक्त किया जाता है, वे लिखते हैं कि दिगम्बर मुनि वन्दना के योग्य हैं और अन्य लिंग इच्छाकार के योग्य हैं, जैसा कि उनके द्वारा लिखा गया है-

जे बावीस परीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मखयणिज्जरा साहु।।12।। सूत्रपाहुड
अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेव सम्मसंजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय।।13।। सूत्रपाहुड

अर्थात् सैकड़ों शक्तियों से संयुक्त जो 22 परीषहों को सहन करते हुए नित्य कर्मों की निर्जरा करते हैं, ऐसे दिगम्बर साधु वन्दना के योग्य हैं और शेष लिंगधारी वस्त्र धारण करने वाले हैं, परन्तु जो ज्ञान, दर्शन से संयुक्त हैं, वे इच्छाकार करने योग्य हैं।

ये दोनों गाथाएं वन्दना विधि को दो रूप में ही प्रतिपादित करती हैं। एक तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु जो सकल परिग्रह से रहित हैं, उन्हें वन्दना नमोस्तु आदि कहकर विनय करना योग्य है और जिनके पास कुछ भी परिग्रह है उन्हें इच्छामि, इच्छाकार कहकर विनय करना कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने आर्यिकाओं की विनय भी ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं जैसी बतायी है। वर्तमान में आर्यिकाओं की विनय उत्तम श्रावकों से भिन्न और अधिक होती है, इन्हें उत्तम श्रावकों से श्रेष्ठ भी माना जाता है। यह विचारणीय है कि आर्यिकाओं के लिए

वन्दामि/वन्दना शब्द का प्रयोग कब और कहां से आया है? लोक में प्रचलित है अतः स्वीकार तो किया ही जाना चाहिए किन्तु संयमधारण करने की विवक्षा से यथायोग्य विनय को जैनाचार्यों ने महत्त्व दिया है। अर्थात् पूज्यता और वन्द्यता में निर्ग्रन्थता को प्रथम स्थान है क्योंकि सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका के द्वारा भी आज का नवदीक्षित साधु अभिवंदन, वन्दन, नमस्कार व विनय से पूज्य है।[8] आर्यिकाओं द्वारा साधुओं को की जाने वाली विनय-वन्दना की भी व्यवस्था है अर्थात् आर्यिकाएँ आचार्यों को पांच हाथ दूर से, उपाध्याय को छह हाथ दूर और साधुओं को सात हाथ दूर से गवासन में बैठकर वन्दना करती हैं।[9] मुनिजन आर्यिकाओ को आशीर्वाद पूर्वक समाधिरस्तु या कर्मक्षयोस्तु बोलते हैं अर्थात् मुनिजन आर्यिकाओं को वन्दामि शब्दों द्वारा विनय व्यवहार नहीं करेंगे। मुनि और आर्यिकाओं की परस्पर में वन्दना युक्त नहीं हैं।[10]

वर्तमान मे गृहस्थों द्वारा वन्दना या विनय करते समय पात्र का विचार नहीं किया जाता है, जो मार्ग में दोष पैदा करता है। पात्र की योग्यता से ही विनय वाचक शब्दों का प्रयोग उचित माना गया है। ऐसा कहीं नहीं है कि किसी को भी किसी भी शब्द से विनय कर ली जाय। विनय गृहस्थो द्वारा तो की जानी चाहिए, साधुओं के द्वारा भी पात्रानुसार विनय करना अपेक्षित होता है। कहा भी गया है-

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण।।129।।भग०आ०

रत्नत्रय में जो उत्कृष्ट अथवा रत्नत्रय में जो अपने से हीन हैं उनकी आर्यिकाओ में और गृहस्थ वर्ग में यह विनय यथायोग्य प्रमाद रहित होकर करनी ही चाहिए।

यहाँ स्पष्ट है कि जो श्रेष्ठ आचरण वाले हैं, उनकी विनय करना ही चाहिए। अपने से श्रेष्ठ चारित्र वालों को भी सम्मान देना ही

चाहिए। क्योंकि जिसके पास रत्नत्रय विद्यमान है वह विनय योग्य है। हॉ, विनय में किससे कैसा व्यवहार और कैसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए? सो ऊपर बताया हुआ है। भगवती आराधना में यह भी बताया गया है कि संयमोपकरण ज्ञानोपकरण तथा अन्य भी जो उपकरण उनमें औषधादि में आतपनादि योगों में इच्छाकार करना चाहिए।[11] यहाँ मुनियों से भिन्न पात्रों को इच्छाकार का विधान किया गया है, न की वन्दना का है। वन्दना के योग्य तो रत्नत्रयधारी मुनि ही कहे गये हैं अर्थात् दर्शन ज्ञान चारित्र और तपविनय में स्थित सराहनीय गणधरों द्वारा गुणानुवाद किये जाने वाले साधु ही वन्दने योग्य हैं[12] और भी कहा है 'अनेक प्रकार के साधु सम्बन्धी गुणों से युक्त पूज्य साधु ही मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञानियों द्वारा वन्दने योग्य हैं।[13] वन्दना कब करना चाहिए इसका भी विधान है 'एकान्त भूमि में पद्मासनादि से स्वस्थ चित्तरूप से बैठे हुए मुनि की वन्दना करनी चाहिए और वह भी उनकी विज्ञप्ति लेकर करना चाहिए। आलोचना के समय, प्रश्न के समय, पूजा व स्वाध्याय के समय तथा क्रोधादि अपराध के समय आचार्य, उपाध्याय, साधु की वन्दना करनी चाहिए।[14] दिगम्बर मुनि जो पूर्ण संयम का पालन करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों से सम्पन्न हैं, वे अवश्य ही वन्द्य हैं। जो उत्कृष्ट चारित्र वाले साधु की वन्दना नहीं करता है वह जिनागम से बाह्य है। और मिथ्यादृष्टि है जैसा कि कहा भी है-

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णएण मच्छरिओ।
सो संजम पडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।। 24।। दंसणपाहुड

जो सहजोत्पन्न यथाजात रूप को देखकर मान्य नहीं करता तथा उसका विनय सत्कार नहीं करता और मत्सरभाव करता है, वह यदि संयमप्रतिपन्न भी है, तो भी मिथ्यादृष्टि है।

इससे स्पष्ट है कि संयत मुनि पचपरपमेष्ठी के समान पूज्य हैं। अरिहन्त सिद्ध सकल जिन हैं, आचार्य आदि एकदेश जिन हैं। इनमें अरिहन्त आदि के समान देवत्व है। अत. उन्हीं के समान वन्द्य हैं और

इनके दर्शन वन्दन आदि से कर्म का प्रणाशन भी होता है। धवल में शंका की गई है 'यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार पलाल राशि को अग्नि समूह में परिणत होने का कार्य अग्नि के एक कण से भी देखा जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए इसलिए आचार्यादिक भी देव हैं।[15]'

मोक्षमार्ग में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु को समान रूप से वन्दना योग्य कहा गया हैं। साधुओं (आचार्य उपाध्याय साधु) में तीन परमेष्ठी गर्भित हैं। ये निर्ग्रन्थता वीतरागता निष्परिग्रहता, रत्नत्रय की विशिष्टता, निर्मोहीपना आदि गुणों से वन्द्य हैं। इनमें भी जो ज्ञान गुण की अधिकता रखता है, वह विशेष वन्दना के योग्य है। जैसा कि कहा भी गया है चारित्र व तप में अधिक न होते हुए भी सम्यग्ज्ञान गुण से ज्येष्ठ होने के कारण श्रुत की विनय के अर्थ वह अभ्युत्थानादि विनय के योग्य है। यदि कोई चारित्र गुण में अधिक होते हुए भी ज्ञानादि गुण की वृद्धि के अर्थ बहुश्रुतजनों के पास वन्दनादि क्रिया में प्रवर्तता है तो कोई दोष नहीं परन्तु यदि केवल ख्याति पूजा व लाभ के अर्थ ऐसा करता है तब अतिदोष का प्रसंग आता है।[16]

अरिहन्त सिद्ध के समान ही आचार्य श्रुत भक्ति में वन्दना की गई है। इच्छामि भंते! आइरिय भत्ति काउस्सग्गो तस्सालोचेउं सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचरित जुत्ताणं पंचविहाचाराणं आइरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयण-गुण-पालण-रयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वन्दामि णमंसामि। ये स्तुति/विनय वाचक पदों का समान रूप से व्यवहार किया गया है। यही पद श्रुतभक्ति आदि में भी प्रयुक्त हैं। अतः यह सिद्ध है कि पूर्व में विनय वाचक पदों को किसी के साथ नियत नहीं किया था। अब वन्दना के अयोग्य का कथन है, वन्दना मुनि को भी अन्य मुनि के लिए कब नही करना चाहिए, यह भी जानने योग्य है। आचार्य शिवार्य लिखते हैं–

वखित्तपराहुतं तु पमत्तं मा कदाइं वंदिज्जो।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि।।597।।भगवती आ०

व्याकुल चित्तवाले को, निद्रा विकथा आदि में प्रमत्त दशा को प्राप्त को तथा आहार व नीहार करते को वन्दना नहीं करना चाहिए।

यद्यपि यह एक साधु द्वारा दूसरे साधु को वन्दना न करने का कथन है। श्रावक भी उक्त प्रमत्त दशा में प्रवृत्त साधु को वन्दना नहीं करता है तो उसमें किसी भी प्रकार की अवज्ञा (अविनय) नहीं होती है। यदि कोई दिगम्बर मुनि भी है और वह रत्नत्रय से भ्रष्ट है तो भी वन्दना के योग्य नहीं है "दंसणहीणो ण वंदिव्वो" अर्थात् सम्यक्त्वविहीन वन्द्य नहीं है। असंयमी तथा वस्त्रविहीन द्रव्य लिंगी साधु भी वन्द्य नहीं है क्योंकि दोनों ही संयम रहित के समान ही हैं।[17] पार्श्वस्थ कुशील संसक्त, अवसन्न और मृगचारी ये पांच प्रकार के मुनि यद्यपि दिगम्बर मुद्रा को धारण करते हैं किन्तु ये जिनधर्म से वाह्य ही कहे जायेंगे। ये दर्शन ज्ञान चरित्र युक्त नहीं होते है और धर्मादि में हर्ष रहित हैं अतः वन्दना के अयोग्य हैं।[18] आचार्य जयसेन का कहना है कि श्रमणाभासों के प्रति वन्दना आदि निषिद्ध ही हैं।[19] स्वेच्छाचारी कोई भी हो वह पूज्य/वन्द्य नहीं है। जैसा कि इन्द्रनन्दि ने कहा है- जो कोई मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका पूर्वाचार्यो की आज्ञाओं का उल्लंघन कर कुछ भी क्रिया करते हैं, स्वेच्छाचारी बनकर यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करते हैं, उनको मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए। वे महात्माओं के द्वारा वन्दनीय/पूजनीय नहीं हैं। अपराजितसूरि ने लिखा है-**असंयतस्य संयतासंयतस्य वा नाभ्युत्थानं कुर्यात्** (भ०आ०116 की विजयोदया टीका) असंयत या संयतासंयत जनों के आने पर खड़ा होना योग्य नहीं है। यह व्यवस्था मुनियों के लिए है न कि गृहस्थों को। गृहस्थ तो संयतासंयत की अभ्युत्थान आदि विनय में अवश्य करेंगे। मूलाचार मे वर्णित समाचार विधि आर्यिकाओं के प्रति उचित विनय व्यवहार की शिक्षा देती है।[20]

शास्त्रों और पुराणों में मुनियों के लिए वन्दन, नमन, प्रणमन आदि शब्दों के द्वारा विनय सर्वत्र है, किन्तु आर्यिकाओं के लिए वन्दामि वन्दना का प्रयोग शास्त्रो मे कम देखने को मिलता है किन्तु कहीं-कही

आर्यिकाओं को वन्दामि पद से विनय प्रगट की गई है। जैसे जैनाचार्य इन्द्रनन्दि द्वारा भी लिखा गया है-

निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु स्यादार्यिकाणां च वन्दना।
श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छारोऽभिधीयते।। 51।। –नीतिसार समुच्चय

अर्थात निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नमस्कार करते समय नमोऽस्तु कहना चाहिए, आर्यिकाओं को वन्दामि कहना चाहिए और उत्तम श्रावकों को इच्छामि या इच्छाकार बोला जाता हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है।[21] अतः पूर्वाचार्यों की परम्परा को समादर देते हुए परवर्ती कथनों और लोकपरम्परा को मानकर मुनियों को नमोऽस्तु, आर्यिकाओं को वन्दामि और उत्तम श्रावक-श्राविका क्षुल्लक ऐलक एवं क्षुल्लिकाओं को इच्छामि व्यवहार करने की सामाजिक व्यवस्था में बाधा नहीं डालकर इस परम्परा को सभी को मानना चाहिए। जिनागम में व्रतों से परिपूर्ण स्त्रियों का भी सम्मान करना आवश्यक है इसलिए उनका लोक व्यवहार के अनुसार सम्मान आदि करना ही चाहिए।[22] लोक प्रसिद्ध पद व्यवहार भी मान्य होना चाहिए क्योंकि परम्परा (रूढ़ि) भी स्वीकार्य होती है। अतः मुनियों को नमोऽतु आर्यिकाओं को वन्दामि और ऐलक क्षुल्लक आदि को इच्छामि/इच्छाकार पदव्यवहार भी प्रचलन में रहे हैं, वह आज भी सामयिक हैं। इन्हीं विनय वाचक पदों से विनय व्यवहार चले यही आवश्यक और योग्य है।

सन्दर्भ-

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग । तत्त्वार्थसूत्र प्र० सूत्र।।
2. णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मगया सव्वे।। सूत्रपाहुड 23।।
3. स्वयभूस्तोत्र।
4. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
   अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने ।।33।।रत्न०श्रा०
5. द्विविध संग विन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी।
   मध्यम अन्तर आतम है जे देशव्रती अनगारी।
   जघन कहें जे अविरतसमदृष्टि तीनो शिवमगचारी।। –छहढाला

6. सूत्रपाहुड 20,21,22
7. सूत्रपाहुड।।
8. वरिससंयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहु।
अभिगमणवंदण णमसणण विणएण सो पुज्जो।। मोक्षपाहुड 12 की टीका में उद्धृत
9. पंच छः सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधु य।
परिहरिऊणज्झाओ गवासणेव वदंति।। भगवती आराधना 195
10. मुनिजनस्य स्त्रियाश्च परस्परं वन्दनापि न युक्ता।
यदि ता· वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्त्विति न वक्तव्यं किं तर्हि वक्तव्यं समाधिकर्मक्षयोऽस्त्विति। मोक्षपाहुड 12 टीका पृ० 313
11. संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे।
जोग्गग्गहणादीसु अ इच्छायारो दु कादव्वो।। भगवती आराधना।।131
12. दसणणाणचरित्ते तव विणये णिच्चकालमुवसत्था।
एदेदु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं।। दंसपाहुड 23
13. इत्याद्यनेकधानेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः।
नमस्य· श्रेयसेऽवश्य ....।।674 पचाध्यायी उत्तरार्द्ध
14. अनगार धर्मामृत 753-54प्र०772
15. धवलः1/1.1.1/52.2
16. यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वात्श्रुतविनयार्थमभ्युत्थेयाः। यदि बहुश्रुताना पार्श्वेज्ञानादिगुणवृद्धयर्थं स्वयचारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादि क्रियासु वर्तन्ते तदाति प्रसगदोषो भवति।। प्रवचनसार ता० वृ० 263 एव 267 गाथाओं के अन्तर्गत।
17. असजदो ण वदे वच्छविहीणो वि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। दसणपाहुड 26
18. भगवती अराधना 1949
19. इतरेषां तु श्रमणाभासानां ता· प्रतिषिद्धा एव। प्रवचनसार ता०वृ०263
20. समाचार अधिकार मूलाचार
21. क) यथा हि यथायोग्यप्रतिपत्तया। तत्र मुनीन "नमोऽस्तु इति आर्यिका वन्दे इति। श्रावकान् इच्छामि इत्यादि प्रतिपत्तया"। सागार धर्मामृत 6/12 की आशाधरकृत स्वोपश टीका का अंश।
(ख) गणहर णिग्गंथहँ पणवेप्पिणु अज्जियाहँ वदणय करेप्पिणु।
खुल्लय इच्छायारु करेप्पिणु सावहा णु सावय पुछप्पिणु।। सिरिवालचरिउ पृ० 5
22 पचाध्यायी उत्तरार्द्ध 735

– रीडर संस्कृत विभाग,
दि. जैन कॉलिज, बड़ौत।

जैन संस्कृत पुराणों में वर्णाश्रम धर्म

-- डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतीय परम्परा में जैनधर्म अपनी उदारता और व्यापकता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि व्यक्ति स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन के कारण वह अन्य सब धर्मो में श्रेष्ठ धर्म गिना जाता है। विश्व में जितने धर्म हैं उनकी उत्पत्ति प्रायः अवतारी पुरुषों के आश्रय से मानी गई है किन्तु जैन और बौद्ध ये दो धर्म इसके अपवाद हैं।

षट्कर्म व्यवस्था और तीन वर्ण- साधारणतः आजीविका और वर्ण ये पर्यायवाची नाम हैं, क्योंकि वर्णो की उत्पत्ति का आधार ही आजीविका है। जैन पुराणों में बतलाया है कि कृतयुग के प्रारम्भ में कल्पवृक्षों का अभाव होने पर प्रजा क्षुधा से पीड़ित होकर भगवान ऋषभदेव के पिता नाभिराज के पास गई। प्रजा के दुःख को सुनकर नाभिराज ने यह कह कर कि इस संकट से प्रजा का उद्धार करने में भगवान ऋषभदेव विशेषरूप से सहायक हो सकते है, उसे उनके पास भेज दिया। क्षुधा से आर्त्त प्रजा के उनके सामने उपस्थित होने पर उन्होंने उसे असि, मषि, कृषि, विद्या वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मो का उपदेश दिया। इससे तीन वर्णो की उत्पत्ति हुई। आचार्य जिनसेन ने लिखा है-

उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा,
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः।।

आदिपुराण 1/16-183

उसी समय आदिब्रह्मा भगवान वृषभदेव ने तीन वर्णो की स्थापना की थी जो कि क्षतत्राण अर्थात् विपत्ति से रक्षा करना आदि गुणों के द्वारा क्रम से क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाते थे। और भी लिखा है-

क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदा भवन्।
वैश्याश्च कृषि वाणिज्यपाशुपाल्योपजीविताः।।
तेषां सुश्रषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्यकारवः।
कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः।।

वही 16/184,185

उस समय जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय हुए, जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन आदि के द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे और जो उनकी सेवा, सुश्रूषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे। वे शूद्र दो प्रकार के थे एक कारु और दूसरे अकारु। धोबी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे। कारु शूद्र भी स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद से दो प्रकार के माने गये है। उनमें जो प्रजा के बाहर रहते है उन्हें अस्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने के अयोग्य कहते है और नाई वगैरह को स्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने के योग्य कहते हैं।

इस प्रकार प्रजा उस समय अपने-अपने योग्य कर्मों को यथायोग्य रूप से करती थी। अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोडकर कोई दूसरी आजीविका नहीं करता था इसलिए उनके कार्यों में संकर (मिलावट) नहीं होता था। उनके विवाह, जाति सम्बन्ध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान आदिनाथ की आज्ञानुसार होते थे। कर्मभूमि की रचना करने वाले भगवान वृषभदेव ने राज्य पाकर महाराजा नाभिराय के समीप ही प्रजा का पालन करने के लिए इस प्रकार प्रयत्न किया। भगवान ने सबसे पहले प्रजा की सृष्टि (विभाग आदि) की फिर उसकी आजीविका के नियम बनाये और फिर वह अपनी-अपनी मर्यादा का उल्लंघन न कर सके इस प्रकार के नियम बनाये। इस तरह वे प्रजा का शासन करने लगे। उस समय भगवान ने अपनी दोनों भुजाओं से शस्त्र धारण कर क्षत्रियो की सृष्टि की थी अर्थात् उन्हें शस्त्रविद्या का उपदेश दिया था सो ठीक ही है, क्योंकि जो हाथों में हथियार लेकर सबल शत्रुओं के प्रहार से निर्बलों की रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते हैं।

तदनन्तर भगवान ने अपने उरुओं से यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश जाना सिखलाकर वैश्यों की रचना की। सो ठीक ही है, क्योंकि जल, स्थल आदि प्रदेशों में यात्रा कर व्यापार करना ही उसकी मुख्य आजीविका है। हमेशा नीच (दैन्य) वृत्ति में तत्पर रहने वाले शूद्रों की रचना वृषभदेव ने पैरों से की थी। क्योंकि क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णों की सेवा, सुश्रूषा आदि करना ही उसकी मुख्य आजीविका है। इस प्रकार तीन वर्णों की सृष्टि तो स्वयं भगवान वृषभदेव ने की थी।

वर्णों की व्यवस्था तब तक सुरक्षित नहीं रह सकती जब तक कि विवाह सम्बन्धी व्यवस्था न की जाये इसलिए भगवान वृषभदेव ने विवाह व्यवस्था इस प्रकार बनायी थी कि शूद्र शूद्र कन्या के साथ ही विवाह करे वह ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की कन्या के साथ विवाह नहीं कर सकता। वैश्य वैश्यकन्या तथा शूद्र कन्या के साथ विवाह करे तथा ब्राह्मण ब्राह्मण कन्या के ही साथ विवाह करे परन्तु कभी किसी देश में वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्याओं के साथ विवाह कर सकता है।

उस समय भगवान ने यह भी नियम प्रचलित किया था कि जो कोई अपने वर्ण की निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्ण की आजीविका करेगा, वह राजा के द्वारा दण्डित किया जायेगा क्योंकि ऐसा न करने से वर्णसंकीर्णता हो जायेगी अर्थात् सब वर्ण एक हो जायेंगे उनका विभाग नहीं हो सकेगा। भगवान आदिनाथ ने विवाह, आदि की व्यवस्था करने के पहले ही असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन षट्कर्मों की व्यवस्था करा दी थी इसलिए उक्त छह कर्मों की व्यवस्था होने से यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी। इस प्रकार ब्रह्मा आदिनाथ ने प्रजा का विभाग कर उनके योग (नवीन वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा) की व्यवस्था की थी।

ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति- ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओं के साथ

भारतवर्ष को जीतकर साठ हजार वर्ष में दिग्विजय से वापस लौटे। जब वे सब कार्य कर चुके तब उनके चित्त में यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरे के उपकार में मेरी इस सम्पदा का उपयोग किस प्रकार हो सकता है? मैं श्री जिनेन्द्रदेव का बड़े ऐश्वर्य के साथ महामह नामक यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसार को सन्तुष्ट करूं। सदा निःस्पृह रहने वाले मुनि तो हम लोगों से धन-धान्य आदि सम्पत्ति के द्वारा पूजा करने के योग्य है। जो अणुव्रत को धारण कराने वाले हैं, धीर-वीर हैं और गृहस्थों में मुख्य हैं ऐसे पुरुष ही हम लोगों के द्वारा इच्छित धन तथा सवारी आदिक वाहनों के द्वारा तर्पण करने के योग्य हैं। इस प्रकार सत्कार करने के योग्य व्यक्तियों की परीक्षा करने की इच्छा से राजराजेश्वर भरत ने उस समय समस्त राजाओं को बुलाया और सबके पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने-अपने सदाचारी इष्ट मित्र तथा नौकर-चाकर आदि के साथ आज हमारे उत्सव में अलग-अलग आवें। इधर चक्रवर्ती ने उन सबकी परीक्षा करने के लिए अपने घर के आंगन में हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये। उन लोगों में जो अव्रती थे वे बिना किसी सोच-विचार के राजमन्दिर में घुस आये। राजा भरत ने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी बचे हुए लोगों को बुलाया परन्तु बड़े-बड़े कुल में उत्पन्न हुए और अपने व्रत की सिद्धि के लिए चेष्टा करने वाले उन लोगों ने जब तक मार्ग में हरे अंकुर है, तब तक उसमें प्रवेश की इच्छा नहीं की। पाप से डरने वाले कितने ही लोग दयालु होने के कारण हरे धान्यों से भरे हुए राजा के आंगन का उल्लंघन किये बिना ही वापिस लौटने लगे, परन्तु जब चक्रवर्ती ने उनसे बहुत ही आग्रह किया तब वे दूसरे प्रासुक मार्ग से राजा के आंगन को लांघ कर उनके पास पहुंचे। आप लोग पहले किस कारण से नहीं आये थे और अब किस कारण से आये है? ऐसा जव चक्रवर्ती ने उनसे पूंछा तब उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया- आज पर्व के दिन कोंपल, पत्ते तथा पुष्प आदि का विघात नही किया जाता और न जो अपना कुछ बिगाड़ करते है ऐसे उन कोंपल आदि मे उत्पन्न होने वाले जीवों का भी विनाश किया जाता

है। हे देव। हरे अंकुर आदि में अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ देव के वचन हम लोगों ने सुने है। इसलिए जिसमें गीले-गीले फल, पुष्प और अंकुर आदि से शोभा की गई है ऐसा आपके घर का आंगन आज हम लोगों ने नहीं खूंदा है। इस प्रकार उनके वचनों से प्रभावित हुए, सम्पत्तिशाली भरत ने व्रतों में दृढ़ रहने वाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान, मान आदि सत्कार से सम्मानित किया। पद्म नामकी निधि से प्राप्त हुए एक से लेकर ग्यारह तक की संख्या वाले ब्रह्मसूत्र नाम के सूत्र से (व्रतसूत्र) से उन सबके चिह्न दिये। प्रतिमाओं के द्वारा किये हुए भेद के अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये है ऐसे इन सब का भरत ने सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे उन्हें वैसे ही जाने दिया। भरत चक्रवर्ती ने जिनका सम्मान किया है, ऐसे व्रत धारण कराने वाले लोग अपने-अपने व्रतों में और भी दृढ़ता को प्राप्त हो गये तथा अन्य लोग भी उनकी पूजा आदि करने लगे। भरत ने उन्हें उपासकाध्ययनांग से इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया। विधि से जो जिनेन्द्रदेव की महापूजा की जाती है उसे विधि के जानने वाले आचार्य इज्या नामकी प्रथम वृत्ति कहते हैं। विशुद्ध आचरणपूर्वक खेती आदि का करना वार्ता कहलाती है तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार प्रकार की दत्ति कही गयी हैं।

अनुग्रह करने योग्य प्राणियों के समूह पर दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि के साथ उनके भय दूर करने को पण्डित लोग दत्ति मानते हैं। महातपस्वी मुनियों के लिए सत्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं। क्रिया, मन्त्र और व्रत आदि से जो अपने समान हैं तथा जो संसार समुद्र से पार कर देने वाला कोई अन्य उ त्तम गृहस्थ है उसके लिए पृथ्वी, स्वर्ण आदि देना अथवा मध्यमपात्र के लिए समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ जो दान दिया जाता है वह समानदत्ति है। अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र की

समस्त कुलपद्धति तथा धन के साथ अपने कुटुम्ब समर्पण करने को सकलदत्ति कहते हैं। शास्त्रों की भावना करना स्वाध्याय है, उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम है। यह छह प्रकार की विशुद्ध वृत्ति इन द्विजों के करने योग्य है। जो इनका उल्लंघन करता है वह मूर्ख नाम मात्र से ही द्विज है, गुण से द्विज नहीं है। तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होने के कारण है। जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञान से रहित है वह केवल जाति से ही ब्राह्मण है। इन लोगों की आजीविका पाप रहित है, इसलिए इनकी जाति उत्तम कहलाती है तथा दान, पूजा, अध्ययन आदि कार्य मुख्य होने के कारण व्रतों की शुद्धि होने से वह उत्तम जाति और भी सुसंस्कृत हो जाती है। यद्यपि जाति नामकर्म के उदय से मनुष्य जाति एक ही है तथापि आजीविका के भेद से होने वाले भेद के कारण वह चार प्रकार की हो गयी है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीच वृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्य शूद्र कहलाते है। इसलिए द्विज जाति का संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्यास से ही माना जाता है परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्यास से जिनका संस्कार नहीं हुआ है वह जाति मात्र से द्विज कहलाता है। जो एक बार गर्भ से और दूसरी बार क्रिया से इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ तो इसे द्विजन्मा अथवा द्विज कहते है परन्तु जो क्रिया और मन्त्र दोनों से ही रहित है वह केवल नाम को धारण करने वाला द्विज है। इसलिए इन द्विजों की जाति के संस्कार को दृढ़ करते हुए सम्राट भरतेश्वर ने अनेक क्रियाओं का विधान किया।

पद्मचरित में ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वर्णन है कि एक बार अयोध्या नगरी के समीप भगवान ऋषभदेव पधारे, उन्हें आया जानकर भरत मुनियों के उद्देश्य से बनवाया हुआ नाना प्रकार का उत्तमोत्तम भोजन नौकरों से लिवाकर भगवान के पास पहुंचे आहार के लिए प्रार्थना करने पर ऋषभदेव ने कहा कि जो भिक्षा मुनियों के उद्देश्य

से तैयार की जाती है वह उनके (ऋषभदेव के) योग्य नहीं है। मुनिजन उद्दिष्ट (विशेष उद्देश्यपूर्वक तैयार किया हुआ) भोजन ग्रहण नहीं करते। ऋषभदेव के ऐसा कहने पर भरत ने इस भोजन सामग्री से गृहस्थ का व्रत धारण करने वाले पुरुषों को भोजन कराना चाहा। सम्राट् ने आंगन के बोये हुऐ जौं, धान्य, मूंग उड़द आदि के अंकुरों से सम्यग्दृष्टि पुरुषों की छांट कर ली तथा उन (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों को जिनके रत्न पिरोया गया था ऐसे स्वर्णमय सुन्दर सूत्र के चिह्न से चिन्हित कर भवन के भीतर करा लिया और उन्हें इच्छानुसार दान दिया। भरतेश्वर के द्वारा सत्कार पाकर ब्राह्मण गर्वयुक्त हो समस्त पृथ्वी पर फैल गये। एक बार भगवान ऋषभदेव ने अपने समवसरण में कहा कि भरत ने जिन ब्राह्मणों की रचना की है, वे वर्द्धमान तीर्थङ्कर के बाद पाखण्डी एवं उद्धत हो जावेंगे ऐसा सुनकर भरत कुपित होकर उनके मारने के लिए उद्यत हुए। भगवान ऋषभदेव ने हे पुत्र! इनका हनन मत करो (मा हननं कार्षीः) यह शब्द कहकर उनकी रक्षा की थी इसलिए आगे चलकर ये माहन (ब्राह्मण) इस प्रसिद्धि को प्राप्त हो गये। आचार्य रविषेण ने लिखा है-

न जातिर्गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।। पद्मचरित पर्व11/203

जीवों का जन्म दो प्रकार का है एक तो शरीर जन्म और दूसरा संस्कार जन्म। इसी प्रकार जैन शास्त्रों में जीवों का मरण भी दो प्रकार का माना गया है। पहले शरीर का क्षय हो जाने से दूसरी पर्याय में जो दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है उसे जीवों का शरीर जन्य जानना चाहिए। इसी प्रकार संस्कार योग से जिसे पुनः आत्मलाभ प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष को जो द्विजपने की प्राप्ति होना है वह संस्कारज अर्थात् संस्कार से उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है। अपनी आयु के अन्त में शरीर का परित्याग करना संस्कारमरण है। इस प्रकार जिसे सब संस्कार प्राप्त हुए है जो ऐसा जीव मिथ्यादर्शनादिरूप पहले के पर्याय को छोड़

देता है इसलिए वह एक तरह से मरा हुआ ही कहलाता है। उन दोनों जन्मों में से जो पाप से दूषित नहीं है ऐसा संस्कार से उत्पन्न हुआ वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ सद्गृहित्व अवस्था को पाकर सद्गृहस्थ होता है। उत्तम क्रियाओं के करने योग्य ब्राह्मणों ने उनके जातिवाद का अहंकार दूर करने के लिए आगे वर्णन किया है।

जो ब्रह्मा की सन्तान हैं, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं और स्वयम्भू भगवान परमेष्ठी तथा जिनेन्द्र देव ब्रह्मा कहलाते है। इसका भाव यह है कि जो जिनेन्द्र भगवान का उपदेश सुनकर उनकी शिष्य परम्परा में प्रविष्ट है वे ब्राह्मण कहलाते हैं। श्री जिनेन्द्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा हैं, क्योंकि वे ही गुणों के बढ़ाने वाले हैं और उत्कृष्ट ब्रह्म अर्थात् ज्ञान भी उन्हीं के अधीन है, ऐसा मुनीश्वर कहते हैं।

जो मृगचर्म धारण करता है, जटा, दाढ़ी आदि चिह्नों से युक्त है तथा काम के वश अंधा होकर जो ब्रह्मतेज अर्थात् ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हुआ वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता। इसलिए जिन्होंने दिव्य मूर्ति के धारक श्री जिनेन्द्रदेव के निर्मल ज्ञान रूपी गर्भ से जन्म प्राप्त किया है, वे ही द्विज कहलाते है। व्रत मन्त्र तथा संस्कारों से जिन्हें गौरव प्राप्त हुआ है, ऐसे इन उत्तम द्विजों को वर्णों के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए अर्थात् ये वर्णोत्तम है। जो क्षमा और शौच गुण को धारण करने में सदा तत्पर हैं सन्तुष्ट रहते हैं, जिन्हें विशेषता प्राप्त हुई है और निर्दोष आचरण ही जिनका आभूषण है, ऐसे उन द्विजों को सब वर्णों में उत्तम मानते हैं। इनके सिवाय जो मलिन आचार के धारक हैं, अपने को झूठमूठ द्विज मानते हैं, पाप का आरम्भ करने में सदा तत्पर रहते हैं और हठपूर्वक पशुओं का घात करते हैं वे ब्राह्मण नहीं हो सकते। उत्तराध्ययन में भी लिखा है-

न वि मुण्डिएण समणो, ओंकारेण न बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण तापसी।।

समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो।
णाणेण उ मुणी होइ तवेण होइ तावसी।।

अर्थात् केवल मुण्डने से श्रमण, ओंकार के जप से ब्राह्मण, अरण्य से मुनि और कुश-चीवर धारण से तपस्वी नहीं होता प्रत्युत समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि तथा तपाराधना से तपस्वी होता है।

द्विज लोगों की शुद्धि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मन्त्र और क्रियाओं के आश्रित है तथा देवताओं के चिह्न धारण करने और काम का नाश करने से भी होती है। जो श्रुति, स्मृति आदि के द्वारा की हुई अत्यन्त विशुद्ध वृत्ति को धारण करते है उन्हें शुक्ल वर्ग अर्थात् पुण्यवानों के समूह में समझना चाहिए। जो इनसे शेष बचते हैं उन्हें शुद्धि से बाहर समझना चाहिए अर्थात् वे महा अशुद्ध हैं। उनकी अशुद्धि न्याय अन्यायरूप प्रवृत्ति से जाननी चाहिए। शुद्धि दया से कोमल परिणाम होना न्याय है और प्राणियों का मारना अन्याय है। इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध वृत्ति को धारण करने वाले जैन लोग ही सब वर्णों में उत्तम हैं। वे ही द्विज हैं। ये ब्राह्मण आदि वर्णों के अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम है और जगत्पूज्य हैं।

किसी एक दिन सभा के बीच में सिंहासन पर बैठे हुए भरत एकत्रित हुए राजाओं के प्रति क्षात्रधर्म का उपदेश देते हुए कहने लगे कि हे समस्त क्षत्रियों में श्रेष्ठ महात्माओं! आप लोगों को आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेव ने दुःखी प्रजा की रक्षा करने में नियुक्त किया है। दुःखी प्रजा की रक्षा करने में नियुक्त हुए आप लोगों का धर्म पांच प्रकार का कहा है। उसे सुनकर तुम लोग शास्त्र के अनुसार प्रजा का हित करने में प्रवृत्त होओ। वह तुम्हारा कुल का पालन करना, बुद्धि का पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजा की रक्षा करना, और समंजसपना इस प्रकार पांच भेद वाला कहा गया है। उनमें से अपने कुलाम्नाय की

रक्षा करना और कुल के योग्य आचरण की रक्षा करना कुल-पालन कहलाता है। आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेव ने क्षत्रपूर्वक ही इस सृष्टि की रचना की है अर्थात् सबसे पहले क्षत्रिय कहते हैं। तथापि यह वंश अनादिकाल की संतति से बीज वृक्ष के समान अनादिकाल का है तथापि विशेषता इतनी है कि क्षेत्र और काल की अपेक्षा से उसकी सृष्टि होती है तथा प्रजा के लिए न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही उनका योग्य आचरण है। धर्म का उल्लंघन न कर धन कमाना, रक्षा करना, बढ़ाना और योग्य पात्र में दान देना ही उन क्षत्रियों का न्याय कहलाता है। क्षत्रिय पद की प्राप्ति रत्नत्रय के प्रताप से ही होती है। यही कारण है कि क्षत्रिय लोग अयोनिज अर्थात् बिना योनि के उत्पन्न हुए कहलाते हैं।

इस प्रकार जैन परम्परा में जन्मना वर्ण का विभाजन न होकर कर्म के आधार पर बताया गया है।

रीडर-जैन बौद्ध दर्शन
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ०प्र०)

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते।।
ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शास्त्रधारणात्।
वाणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्।।

– आदिपुराण, 38/45-46

यद्यपि जाति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है, तथापि आजीविका के भेद से होने वाले भेद के कारण वह चार प्रकार की हो गई है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीच वृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्य शूद्र कहलाते हैं।

अहिंसा और अपरिग्रह की प्रासंगिकता

– नीरज जैन

मानव-धर्म की परिभाषा यदि एक ही शब्द में करने की आवश्यकता पड़े तो उसके लिये अहिंसा के अतिरिक्त शायद कोई दूसरा शब्द दुनिया के किसी शब्दकोश में मिलने वाला नहीं है। अहिंसा संसार के सभी धर्मों का मूल तत्व है। अहिंसा किसी मन्दिर में, या किसी तीर्थ-स्थान पर जाकर, सुबह-शाम सम्पन्न किया जाने वाला कोई अनुष्ठान नहीं है। वह आठों याम चरितार्थ किया जाने वाला एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है। अहिंसा में ऐसी सामर्थ्य है कि वह घृणा-विद्वेष और मान की चट्टान पर प्रेम और सहिष्णुता के अंकुर उपजा सकती है। अहिंसा में यह चमत्कारिक शक्ति है, जो विषमता से दहकते चित्त में समता और शान्ति के फूल खिला सकती है।

अहिंसा से व्यक्ति का जीवन निष्पाप बनता है और प्राणी-मात्र को अभय का आश्वासन मिलता है। इस व्यवस्था से प्रकृति का संतुलन बनाये रखने में सहायता मिलती है और पर्यावरण को संरक्षण मिलता है। इसीलिये तो संतों ने मनुष्य के संयत आचरण को जीव-मात्र के लिये कल्याणकारी कहा है।

इस विधान से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं है। जीवन से पलायन भी अहिंसा का उद्देश्य नहीं है। अहिंसा जीवन को व्यावहारिक बनाती है तथा धर्म और कर्तव्य के बीच संतुलन बनाते हुए अपने लिये और सबके लिये हितकारी चिन्तन को जन्म देती है। अहिंसा मनुष्य के जीवन में मानवता की प्रतिष्ठा का एक मात्र और आसान उपाय है।

अहिंसा मानसिक पवित्रता का नाम है। उसके व्यापक क्षेत्र में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी सद्‌गुण समा जाते हैं,

इसलिए अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। संसार में जल-थल और आकाश में सर्वत्र सूक्ष्म-जीव भरे हुये हैं, इसलिए बाह्य आचरण में पूर्ण अहिंसक होना सम्भव नहीं है, परन्तु यदि अन्तरंग में समता हो और बाहर की प्रवृत्तियाँ यत्नाचार पूर्वक नियंत्रित कर ली जायें, तो बाह्य में सूक्ष्म जीवों का अपरिहार्य घात होते हुये भी, साधक अपनी आन्तरिक पवित्रता के बल पर अहिंसक बना रह सकता है।

क्रोध-मान-माया-लोभ की भावना को मर्यादित करने वाले पवित्र विचार और सद्-संकल्प ही अहिंसा के सुफल हैं। अहिंसा का क्षेत्र संकुचित नहीं है, उसका प्रभाव भीतर और बाहर दोनों ओर होता है। दार्शनिक परिभाषा में 'चित्त का स्थिर बने रहना अहिंसा है' या 'जीव का अपने साम्य-भाव में संलग्न रहना अहिंसा है'। अंतरंग में ऐसी आंशिक समता के बिना अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती।

अपरिग्रह

प्रायः सभी धर्मों की आचार-संहिताओं में परिग्रह-लिप्सा को सभी पापों की जड़ बताया गया है। एक महान जैन आचार्य ने परिग्रह की विस्तृत परिभाषा करते हुए लिखा है- 'मनुष्य परिग्रह के लिये ही हिंसा करता है। उसी के निमित्त ही झूठ बोलता है और उसी अभिप्राय से चोरी के कार्य करता है। कुशील भी व्यक्ति के जीवन में परिग्रह की लिप्सा के माध्यम से ही आता है। इस प्रकार परिग्रह-लिप्सा आज के अर्थ-प्रधान युग का सबसे बड़ा पाप है। उसी के माध्यम से हिंसा-झूठ-चोरी और कुशील आदि सारे पाप हमारे जीवन में प्रवेश पा रहे हैं। लिप्सा ही वह छिद्र है जिसमें से होकर हमारे व्यक्तित्व के प्रसाद में निरन्तर पाप का रिसाव हो रहा है-

संग णिमित्तं मारइ, भणई अलीकं, करेज्ज चोरिक्कं,
सेवइ मेहुण मिच्छं, अपरिमाणं कुणइ पावं।

— समणसुत्तं

सुख का मूल : संतोष

कहा जाता है पहले कभी सतयुग में सब के आंगन में कल्प-वृक्ष हुआ करते थे। जीवन की सभी आवश्यक वस्तुएं, उन कल्प-वृक्षों से प्राप्त हो जाती थीं। शायद वह तब की बात होगी जब मनुष्य को संग्रह का रोग नहीं था। उसका परिवार और उसकी आवश्यकताएं सीमित थीं और वह अपने वर्तमान में जीना पसन्द करता था। समाज में छीना-झपटी और संचय की होड़ नहीं थी।

आज परिस्थितियाँ कुछ अलग प्रकार की हैं। सादगी का सौन्दर्य और संतोष की सुगन्ध हमारे जीवन में कहीं दिखाई नहीं देती। व्यय का आय के साथ कोई संतुलन नहीं है। हमारी असीम-आकाँक्षाओं से डर कर ही शायद कल्प-वृक्ष कहीं छिप गये हैं। वे लुप्त नहीं हुए। आज भी यदि संचय की तृषा न हो, और आकाँक्षाएं सीमित हों, हर परिवार अपनी आय के अनुसार व्यय का बजट बनाना और उसके अनुसार ही संतोष पूर्वक जीना सीख ले तो आज भी हर ऑगन में कल्प-वृक्ष उगाये जा सकते हैं।

क्या दिया है परिग्रह ने?

लालसा से भरा हमारा मन जहॉ तक जाता है, वहॉ तक जो भी हमें दिखाई देता है, वह सब हमारा परिग्रह है। यह मन की लालसा चित्त को व्यामोह की कुंडली में कस लेती है। आचार्यों ने लालसा की इसी वृत्ति को 'मूर्च्छा' कहा है। जिसके मन में पर पदार्थ के प्रति गहरी लालसा है, मूर्च्छा-भाव है, सारा संसार उसका परिग्रह है। जिसके मन में यह मूर्च्छा-भाव निकल गया है, संसार में रहते हुये भी, संसार उसका परिग्रह नहीं है-

मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः,
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवाऽपरिग्रहः।

आज परिग्रह की मूर्च्छा में से उपजा असंतोष मनुष्य को अनेक वर्जित दिशाओं में ले जा रहा है। कामनाओं से तृषित पत्नी अपने पति से संतुष्ट नहीं है। धन के मद से नित-नई चाह वाला पति अपनी पत्नी में नवीनता नहीं देख पाता, उसकी दृष्टि कहीं अन्यत्र है। जहाँ दैहिक अनाचार के अवसर नहीं हैं, वहाँ भी मानसिक अनाचार निरंतर चल रहा है। तनावों में कसा हुआ जीवन नरक बन रहा है। जिसे जो मिला है, वह उसे संतुष्ट नहीं कर पा रहा। उसे और अधिक चाहिये या फिर स्वाद बदलने के लिये दूसरा चाहिये, जस्ट फार ए चेंज।

लोभ और तृष्णा इसी तरह राजा को रंक और भिखारी बना देती है। जो आशा और तृष्णा के गुलाम हो गये, वे सारी दुनिया के गुलाम हो जाते हैं, परन्तु आशा को जिन्होंने वश में कर लिया, सारा संसार उनके वश में हो जाता है। वे लोक-विजयी होकर मानवता के मार्ग-दर्शक बन जाते हैं। यही बात एक नीतिकार ने कही-

आशाया ये दासाः, ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोकः।।

इस आशा दासी का गणित विचित्र है। जब तक इसको मनोवॉछित मिलता नहीं तब तक इसका शिकार लोभ की दाह में दग्ध होता रहता है, और संयोग से कभी चाह पूरी हो गई तो उसी अनुपात में हमारी आशा का कद बढ़ता जाता है तथा जो मिला है उससे चिपटे रहने की तृष्णा हमें अपने पाश में जकड़ लेती है। हर हाल में आशा के चक्कर में पड़ कर हम सदा अतृप्त और दुःखी ही बने रहते हैं। महाकवि भूधरदासजी ने ठीक ही कहा था-

ज्यों-ज्यों भोग सँजोग मनोहर मन-वाँछित जन पावै,
तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंकै, लहर जहर की आवै।

जार्ज बर्नार्ड शॉ ने एक जगह लिखा है- 'हमारे जीवन में दो दुखद घटनाएँ घटती हैं। पहली यह कि हमें अपनी मनचाही वस्तुएं मिलती

नहीं हैं। दूसरी यह कि वे हमें मिल जाती हैं।'

> There are two tragedies in life.
> One is not to get your heart's desire.
> The other is to get it.
>
> –George Bernard Shaw

बात खोने की हो या पाने की इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता। दोनों की परिस्थितियों में मनुष्य के मन में संक्लेश ही उपजते हैं। उन्हीं संक्लेशों की पीड़ा उसे भोगना पड़ती है। वह जितना सम्पत्तिशाली होता जाता है, उसकी पीड़ा उसी अनुपात में बढ़ती जाती है।

मनुष्य प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है परन्तु उसके साथ एक अभिशाप भी लगा है। सृष्टि के समस्त प्राणी जिस रूप में जन्मते हैं, मरने तक उसी रूप में बने रहते हैं, पर मनुष्य के साथ ऐसा नहीं है। नारी की कोख से जन्म लेकर भी उसका जीवन भर मनुष्य बने रहना निश्चित नहीं है। मनुष्य यदि अधर्म और पाप के मार्ग पर कदम बढ़ा ले तो इसी चोले में रहते हुए उसे दानव या पशु बनते देर नहीं लगती। दूसरी ओर यदि वह सम्यक् पुरुषार्थ करके अपनी मनुष्यता को सुरक्षित बनाये रख सके तो उसके लिये नर से नारायण बनने की राह पर चलने की सम्भावना बन जाती है। यदि मनुष्य को मनुष्यता का गौरव लेकर जीना है तो उसे जीवन भर एक साधना करनी पड़ेगी, उस साधना का नाम है 'अहिंसा'। हिंसक मनुष्य का आजीवन मनुष्य बने रहना निश्चित नहीं होता। हिंसक जीवन-पद्धति अपना लेने पर मनुष्य के पतन की ही अधिक सम्भावना बन जाती है।

आज दुनिया में आतंकवाद, लूटमार और अराजकता का जो नंगा नाच हो रहा है उसका मूल कारण यही है कि कुछ अविवेकी जनों ने संसार को अपने आधीन करने की अमर्यादित आकॉक्षा अपने मन में उत्पन्न कर ली है और उसकी पूर्ति के लिये अपरिमित हिंसा का रास्ता अपना लिया है। उनके भीतर सुलगती वासना और हिंसा की ज्वालाओं

में आज पूरी मानवता झुलस रही है। क्या ईश्वर हमें वह बुद्धि देगा जिसके बल पर आज का मनुष्य अहिंसा को उसके सही अर्थों में पहिचाने और उसे अपने जीवन में उतारने का संकल्प लेकर संसार के प्राणी मात्र को अभय का आश्वासन दे सके?

वर्तमान में हमारे सामने ऐसा विश्वास करने के सबल कारण उपस्थित हैं कि अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त आज जितने प्रासंगिक हैं उतने हमारे पूर्वजों के युग में कभी नहीं रहे।

शान्ति सदन, कम्पनी बाग,
सतना म.प्र. 485001

श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशांगमकल्मषम्।
हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक्।।
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद् वधनिषेधि यत्।
वधोपदेशी यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम्।।

– आदिपुराण, 38/22-23

जिसके बारह अंग हैं, जो निर्दोष है और जिसमें श्रेष्ठ आचरणों का विधान है ऐसा शास्त्र ही वेद कहलाता है। जो हिंसा का उपदेश देने वाला वाक्य है, उसे तो यमराज का वाक्य ही समझना चाहिए। पुराण और धर्मशास्त्र भी वही हो सकता है, जो हिंसा का निषेध करने वाला है। इसके विपरीत जो हिंसा का उपदेश देते हैं, उन्होंने धूर्तो का बनाया हुआ समझना चाहिए।

मनराम कृत बारहखड़ी काव्य 'गुरु अक्षरमाला'

–डॉ. गंगाराम गर्ग

हिन्दी और राजस्थानी के जैन साहित्य में 'रासो' 'लूहरि' 'बारहखड़ी' अथवा 'बावनी', बारहमासा आदि अनेक काव्य रूपों के प्रयोग की परम्परा रही। इनमें 'रासो' के समान बारहखड़ी या 'बावनी' भी प्राचीनतम काव्यरूप है। 'ककहरा' और 'अखरावट' आदि इस काव्य रूप के अमर नाम भी जैनेतर काव्य परम्परा में प्राप्त हैं। बारहखड़ी अथवा 'बावनी' संज्ञक काव्यों में प्रत्येक स्वर और व्यंजन तथा कभी व्यंजन के साथ सभी स्वर रूपों के प्रयोग के साथ एक-एक छंद की रचना होती है। श्वेताम्बर जैन परम्परा में हीरानंद (सं. 1648-68) कृत 'अध्यात्म बावनी', लालचंद (रचनाकाल 1672-1695 वि.) कृत 'वैराग्य बावनी' हंसराज कृत 'ज्ञान बावनी,' धर्मवर्द्धन (1700-1783 वि.) कृत 'धर्म बावनी' जिनहर्ष द्वारा संवत् 1738 वि. में लिखित जसराज बावनी और केशवदास द्वारा संवत् 1736 में लिखित 'केशवदास बावनी' अधिक चर्चित रही। दिगम्बर जैन परम्परा में पं. दौलतराम कासलीवाल और चेतनकवि कृत दो अध्यात्म बारहखड़ी कृतियां पूर्ण बारहखड़ी काव्य हैं।

डॉ. कामता प्रसाद जैन ने जैन साहित्य का इतिहास पुस्तक में 437 छंद की इस वृति को उपदेश पूर्ण और उतम काव्य रहा है।

महयन्दिरा कृत दोहा पाहुड़ (सं. 1250 वि.) प्राचीनतम बारहखड़ी रचना है। हर्षकीर्ति कृत 'कंको' सूरति कृत 'अध्यात्म बारहखड़ी' और गुरु अक्षरमाला के नाम से लिखित मनराम की रचना अप्रकाशित बारहखड़ी काव्य है। बारहखड़ी काव्यों के प्रतिपाद्य 'अध्यात्म' और 'नीतितत्व' का उल्लेख ही मनराम के काव्य में हुआ है। मनराम ने अपनी रचना में कर्म की प्रबलता और काल की भयावहता का भय

दिखलाते हुए आत्म चिन्तन की ओर प्रेरित किया और गर्व, कुसंग, इन्द्रिय-विषय, तृष्णा, कुसंग के त्याग तथा क्षमा, सत्य सदगुरु सेवा को ग्राहय बतलाया। अनुप्रास, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, दृष्टान्त आदि अंलकारों से अलंकृत माधुर्यपूर्ण भाषा-प्रयोग रचना की कलात्मक विशेपता है। मूल रचना इस प्रकार है–

परम पुरुप प्रणमूं प्रथम, श्री गुरु गुन आराधि।
परम धरम मारग लहै, हौहिं सिद्धि सब साधि।।1।।
मन वच क्रम करि जोरि कैं, वंदौ सारद माय
गुन अक्षरमाला कहूं, सुनत चतुर सुख पाय।।2।।
ओंकार अपार है, ओं सिद्ध सरूप
ओं मारग मुकति कौ, **ओं** अमृत कूप।।3।।
ई ई ईश्वर ईस करि, ईहा सबै निवारि
ए ए एक अनेक मैं, वहि इक मांहि अनेक
सुमिरहु किन वहि एक कौ, तजि मन की सब टेक।।4।।
अ आ अचंभो एक जिय, आवत है मो नित्त
अमर नहीं जग असारहु, क्यौं सुख सोवे नित्त।।5।।
श्री श्री श्री शिव सदन की, चाहत मन वच काय
धंध जाल पर त्यागि सब, निज आतम मन लाय।।6।।
क का काहु पुन्य फल, पाई मनिषा देह
करि कारज कछु धरम कौ, नर भव लाहौ लेह।।7।।
ख खा खोटी वुद्धि तजि, खोटो संग निवारि
खरचि सुभाग्ग संपदा, षटिसु जस ससार,।।8।।
ग गा गरव न कीजियै, गहौ सुमारिग चाल
गाफिल हुवा जिनि रहौ, गरजति सिर पर काल।।9।।
घग्घा घट वधि करम है, घटि वधि जीव न कोइ
जो घटि सो बढ़ि छिनक मैं, जो बढ़ि सो घटि होइ।।10।।
नन्ना निरखि सुसंपदा, निरषि निरंजन देव

निरखि सुगुरु निरगंथ जो, निरखि दया ध्रम भेव।।11।।
च च्चा चंचलता तजौ, चंचलता दुख होइ।
जो चित कूं चंचल करै, चतुर न कहिए सोइ।।12।।
छ छा छिन छिन छिन छवि, छिन छिन जरा दबाब।
छिमा गहौ छोभहिं तजौ, छिन छिन आयु घटाय।।13।।
ज जा जोबन जाय सब, सकति न रहत सरीर
जोग करहु सुभ योग कूं, जोग बन्यौ है वीर।।14।।
झ झा झूंठ न बोलि झूंठ अजस अधिकाय।
झूंठ मूल है पाप कौ, झूंठ कुगति ले जाय।।15।।
न न्ना नेह न कीजिए, इनि इंद्रिनि सैं जोरि।
मूढ़ि ठगोरी मेल्हि कै, लेहि रतनत्रय चोरि।।16।।
ट टा टंटा सौं बनिज, तजि करि सदगुरु साह।
टो टौ माजै पाछिलौ, होहि अयूरब लाह।।17।।
ठ ठा ठाकुर त्यागि, जो नहिं वचन कौ ठीक।
सेइ सुपद सरबग्य जिहिं, कह्यो सुपछर लीक।।18।।
ड डा डरयां न छूटियें, वैरी करम बलिष्ट।
जीत्यौ चाहै चतुर मति, करि करुणा मय इष्ट।।19।।
ढ ढ़ा ढूढै दूरि कित, ढूंढिसू निजि घट माहि।
तू ही ग्याता ग्यान तू, दूजौ कोऊ नाहि।20।।
गणां रावन राम से, दल बल विभौ अपार।
तेऊं भए जु बाल बसि, जात न लागी बार।21।।
त ता तिसना बुद्धि तजि, तरणी संग निवारि
चाहत जौ निर्भय भयौ, आतम तत्व विचारि।22।।
थ था थो थौ पीजरौ, अशुचि रोग कौ थांन।
या मैं थिर कहि को रह्यौ, थो थो न करि गुमांन।23।।
द दा दांन दया बिनां, द्रव्य जांनि सव खेह।
देह देह कत करत है, देह देह करि देहा।24।।
ध द्धा धन घर महि गड्या, धरमहि खरच्यां नांहि।

ते नर मध्यका जीव सब, समैं गये पछिता हिं।26।।
न न्ना नगर न जीव कैं, नहीं जीव के दाभ।
तात मात सुत कामिनी, नहीं जीव के धाम।27।।
प पा पर उपगार करि, पर की पीर निहारि।
परमारथ पंथ पाव धरि, निज पर लोक सुधार।28।।
फ फा फूल्यौ कत फिरे, फीटी संपति पाय।
बिना जतन ही आव ही, जतन करंती जाय।
ब ब्बा वैरी जीव कै, विषै समान न कोइ।
अजस सुजस इह भव प्रगट, आगैं दुरगति होइ।30।।
भ भा भूल्यौ भरम मैं, भरम्यौ तू चित काल।
भीज्यो रस कामिनि कनक, भजो न दीनदयाल।31।।
म म्मां मान सुमति करै, मान सुमति कौ नांस।
मान मूल दुख दुरम कौ, मांन कुमति कौ बास।
य या जिय के जीव सम, हितु न दूजौ कोइ।
या तैं पर सौं प्रीति तज, आय आय कौं जोइ।33।।
र रा रंक राजा कहा, दोऊ एक निदानि।
षांन पहरनै भेद पै, काल गाल मैं जांनि।34।।
लल्ला लोभ निवारिये, लोभ अजस कौ कंद।
लोभ सुजस धन पवन है, लोभ कुगति कौ फंद।35।।
व। वा वा मेरी बसत, वा कीनी वा नाहि।
वा करिहौं करिहौं नवा, वादि वह्यो जग मांहि।36।।
स स्सा समिकित बाहरौ, मिथ्या जप तप दांन।
सांच बिनां न मंत्र फुरै, कोटि करै जो आंन।37।।
हा हा हासी जिनि करौ, करि करि हासी आंन।
हीरौ जनम न हार तू, विनां भजन भगवांन।38।।
निज कारन उपदेस मैं, कीयो बुधि अनुसारि।
कवि जन दुख न जिनि धरौ, लीज्यौ अबै सुधारि।39।।

पढ़ै सुणै अर सरदहैं, मन बच क्रम जो याहि।
निति गहैं अति सुख लहै, दुख न व्यापै ताहि।40।।
इहि विनती 'मनरांम' की तुम गुण सकल निधान।
संत सहज अवगुन तजैं, करै सुगुन परवांन।
(इति श्री गुरु अक्षरमाला सम्पूर्ण)

खेह, थोथौ, टोटौ, ठगोरी आदि ब्रजभाषा शब्दावली एवं 'संपदा' चंचलता, कामिनी, कनक आदि तत्सम शब्दों के प्रयोग के कारण, राजस्थानी भाषा के शब्दों के पूर्ण परिहार के कारण कविवर मनराम पूर्वी राजस्थान के निवासी प्रमाणित होते हैं। इनके कुछ फुटकर पद भी प्राप्त हैं। 'मनराम विलास' के नाम से कवि के रचना संग्रह का उल्लेख भी मिलता है।

110-A, रणजीतनगर
भरतपुर
321001

यथा राजा तथा प्रजा

धर्मशीले महीपाले याति तच्छीलतां प्रजाः।
अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजाः।।

– आदिपुराण, 41/87

यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है और राजा धर्मात्मा नहीं होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा नहीं होता है। यह नियम है कि जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है।

भाषा-विकास एवं अपभ्रंश

—सूरजमल राव

भाषा, मनुष्य की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक वाचिक माध्यम माना गया है। वाचिक माध्यम का तात्पर्य है—वाणी में सहायक माध्यम। वाणी वक्ता के मुह से ध्वनियों के रूप में व्यक्त होती है। परन्तु जो ध्वनियों के रूप में अभिव्यक्त नहीं हो कर वक्ता के मानस में घुमड़ती रहे, वह भी भाषा ही मानी जाती है। भाषा एक वाचिक व्यवस्था है, जो मौन में मानसिक एवं व्यक्त होने पर ध्वनि रूप धारण करती है। यह सामाजिक सम्पर्क में अनिवार्य एक वैयक्तिक कर्म है।

मानव-जीवन में भाषा का महत्त्व सर्वविदित है क्योंकि सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार भाषा के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। मनुष्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है। मानव चाहे जिस देश, जाति या वर्ग का हो, सभ्य-शिष्ट या असभ्य-अशिष्ट, ग्राम्य हो या नागरिक-मनुष्य मात्र द्वारा प्रयुक्त व्यक्त वाक् को भाषा कहा जाता है। चाहे उसमें ध्वनियों शब्दों, वाक्यों या अर्थों की कितनी भी विभिन्नता क्यों न हो। हां, पशु-पक्षियों की ध्वनियां तथा इंगित और चेष्टादि द्वारा की गयी अभिव्यक्ति इसके अन्तर्गत नहीं आती है।

भाषा शब्द सस्कृत की "भाष्" धातु से बना है, जिसका प्रयोग व्यक्त वाणी (व्यक्तायां वाचि) के लिए किया जाता है। पशु-पक्षियों की बोली तथा मानवकृत इंगितों व संकेतों की भाषा वस्तुतः भाषा कहलाने की अधिकारिणी नहीं है, क्योंकि वह "अव्यक्त वाक्" है। मनुष्य द्वारा वाणी से उच्चारित, ध्वनि-संकेतों से गठित, शब्दमयी भाषा ही वस्तुतः भाषा हैं क्योंकि उसमें स्पष्टता, असंदिग्धता तथा सुगमता है।[1]

वर्तमान में जिस शास्त्रीय विधा में भाषा का अध्ययन किया जाता

है उसे भाषाविज्ञान कहते है। यह शब्द दो शब्दों के संयोग से बना है– भाषा एव विज्ञान। जहां भाषा मानव-विकास में सहायक रही हैं, हमारे पूर्व पुरुषों के सारे अनुभव हमें भाषा के माध्यम से प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार "विभिन्न अर्थो में सांकेतिक शब्द समूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने मनोभाव दूसरों के प्रति सरलता से प्रकट करते हैं।" विज्ञान शब्द का अर्थ है- विशिष्ट ज्ञान। अर्थात् किसी वस्तु का विशेष ज्ञान। ज्ञान एवं विज्ञान में भी अंतर है किसी वस्तु का प्रथम दृष्टि में ज्ञान होना ज्ञान है और किसी वस्तु के बारे में सम्पूर्ण जानकारी विज्ञान कहलाता है। इस प्रकार जिस शास्त्र विधा में भाषा का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है वह शास्त्र भाषा-विज्ञान कहलाता है। इस प्रकार भाषा विज्ञान उस विज्ञान को कहते है, जिसमें मानवप्रयुक्त व्यक्त वाक् का पूर्णतया वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

भाषा विज्ञान की दृष्टि में भाषा के संदर्भ में कहा गया है कि जिन यादृच्छिक तथा विभिन्न अर्थो में रूढ ध्वनि-संकेतों के द्वारा मनुष्य अपने भाव-विचार को अभिव्यक्त करता है, उन्हे भाषा कहते है।[2]

An Introduction to Camparative Philology मे भाषा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि language in its widest sense means the sum total of such signs of our thoughts and feelings as are capable of external perception and as could be produced and repeated at will अर्थात्-अपने व्यापक रूप में भाषा का अर्थ है-हमारे विचारों और मनोभावों को व्यक्त करने वाले ऐसे संकेतो का कुल योग, जो देखे या सुने जा सकें और इच्छानुसार उत्पन्न किये एवं दोहराए जा सकें।

Speech and language में A.H. Gaediner भाषा को परिभाषित करते हुए लिखते है। The common definition of speech is the use of artieeclate sound symbols for the expression of thought श्याम सुन्दर कृत अनुवाद अनुसार विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यवहार को भाषा कहते है।[5]

हमारे आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में भाषा की दिव्योत्पत्ति का सिद्धान्त दर्शाया गया है और कहा गया है जिस प्रकार परमात्मा ने मानव सृष्टि की सृजना की, उसी प्रकार मानव के लिए एक परिष्कृत भाषा भी दी। इस मत में प्रत्येक कार्य के मूल में दैवी शक्ति की सत्ता मानी जाती है।[6]

शब्दकल्पद्रुम में भाषा उसे माना गया है, जिसका प्रयोग शास्त्र एवं व्यवहार के लिए होता है।[7] न्यायकोशकार ने भाषा को सीमित स्वरूप में परिभाषित करते हुए न्याय[8] के शपथ सूचक वाक्यों को भाषा माना है। वहीं जैनाचार्यों ने आचारशास्त्र की दृष्टि से शुद्धता, बोधगम्यता संक्षिप्तता,मधुरता आदि का निर्वाह जहां होता है, उसी को भाषा माना है।[9] परन्तु यह दृष्टि भाषा विज्ञान से भिन्न है। संस्कृत-हिन्दी शब्द कोशकार वामन शिवराम आप्टे ने किसी जन समुदाय द्वारा अपने भावों एवं विचारों को व्यक्त करने के लिए मुह से उच्चारण किए जाने वाले शब्दों एवं वाक्यों के समूह को भाषा माना है।[10]

भाषा का अर्थ है-स्पष्ट वाणी। स्पष्ट वाणी से तात्पर्य उस ध्वनि से है, जो उच्चारण अवयवों द्वारा साफ-साफ उच्चारित हो, साथ ही साथ अर्थपूर्ण भी हो, दूसरे शब्दों में अर्थयुक्त समास उच्चरित ध्वनियों की संज्ञा ही भाषा है। इससे स्पष्ट होता है कि भाषा का प्रयोक्ता मनुष्य ही होता है क्योंकि अन्य जीवों में यह क्षमता नहीं होती। इसी कारण इनको भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं किया गया है।[11]

महान् भाषा शास्त्री पाणिनी ने 'व्यक्तायां वाचि' शब्द का ही प्रयोग करते हुए व्यक्त का अभिप्राय स्पष्ट बोलना लगाया हैं और इसी कारण व्यक्त वाणी को "मनुष्य की वाणी" तथा मानव-समाज तक ही सीमित रखा गया है।[12]

भारतीय आर्य भाषाओं का विधिवत् इतिहास तो हमें प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं है, तथापि इसकी साधारण रूपरेखा ऋग्वेद से आज तक उपलब्ध है। कुछ विद्वानों ने अनार्य भाषाओं को छोड़कर संसार भर

की परिष्कृत भाषाओं का उद्गम वैदिकभाषा को माना है।

कुछ विद्वानों ने भारतीय-यूरोपीय भाषाओं की मूल भाषा के रूप में उर्सप्राख (Ursparache) नामक एक भाषा की कल्पना की है।

भारत-यूरोपीय (भारोपीय) भाषा-परिवार से आशय उन समस्त भाषाओं से है, जो उस प्रचीन भारत-यूरोपीय मूल भाषा से निकली है। भारत यूरोपीय शब्द से यही अभिप्राय है कि इस भाषा परिवार के भारत से लेकर यूरोप तक के भौगोलिक विस्तार की ओर ध्यान दिया जा सके-इस परिवार के नाम के सम्बन्ध में बहुत विवाद रहा हैं तथा समय-समय पर अनेक नाम सामने आये हैं जैसे-इण्डो-केल्टिक, संस्कृत, जेफाइट, या जफेटिक, काकेशियन, आर्य, इण्डो-योरोपियन, (भारोपीय) विरोस, इण्डो-हित्ताइत, भारोपिय-एनाटोलियन आदि-आदि।[13]

The origin and development of the bengali language में डा. सुनीति कुमार चटर्जी ने जो भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण किया वह उल्लेखनीय है। जिसमें संस्कृत भाषा को सभी भाषाओं का स्रोत माना गया है।[14]
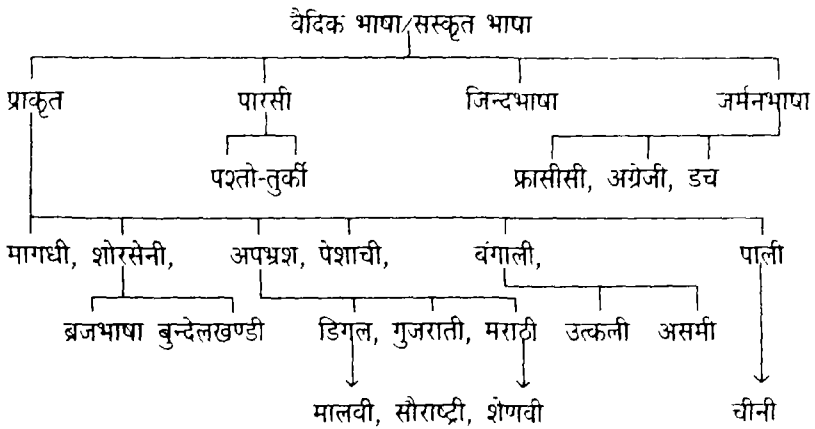
भारतीय आर्य भाषा को विकास-क्रम की दृष्टि से तीन युगों मे विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम- प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल

द्वितीय- मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल

तृतीय- आधुनिक आर्य भाषा काल

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का स्वरूप हमें वैदिक छान्दस भाषा में मिलता है। मध्यकालीन आर्य भाषा का स्वरूप हमें प्राकृत परिवार में मिलता है। इसका विकास ईसा पूर्व 600 से 1000 वर्ष तक माना जाता है। पाली एवं अपभ्रंश भी प्राकृत भाषा परिवार के अन्तर्गत आती है परन्तु इनकी अपनी स्वतंत्र इकाई होने के कारण प्राकृत से पृथक् भी माना जाता है। हिन्दी आदि सभी आधुनिक भाषाओं का विकास-प्राकृत-अपभ्रंश एवं अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का विकास माना गया है। प्राकृत प्रकाश की प्रस्तावना में संस्कृत एवं प्राकृत के संदर्भ में डा. मण्डन मिश्र ने लिखा है- "प्राकृत एवं संस्कृत की प्राचीनता के विषय में अलग-अलग तरह की व्याख्याएं विभिन्न समीक्षक अपने-अपने दृष्टिकोण से करते आये है।" इस विवाद अथवा तर्क-वितर्क से ऊपर उठकर इतना कहना पर्याप्त होगा कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए संस्कृत-नाटकों में प्राकृत को स्त्री पात्र की भाषा के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसका मूल कारण इस भाषा की मधुरिमा, इसके शब्दों की मोहकता और हृदय आर्कषण की स्वाभाविक शक्ति से सम्पन्न होना है।[15]

प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के विषय में मतैक्य का अभाव हैं। विभिन्न विद्वानों ने इस के उत्थान के संदर्भ में अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं–

(अ) संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति :- प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है। प्रकृतिः संस्स्कृतम्। तत्र भवं आगतं वा प्राकृतम्।[16] अर्थात् प्राकृत भाषा की प्रकृति संस्कृत है। अतः संस्कृत से जन्य भाषा प्राकृत है। प्राचीन भारतीय साहित्य में इस तथ्य की पुष्टि करने वाली अनेक व्याख्याएं उपस्थित हैं जिनसे संस्कृत से प्राकृत का जन्म होना सिद्ध

होता है। मार्कण्डेय रचित प्राकृत सर्वस्व में भी वर्णन है कि– "प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते" आदि अनेक ग्रन्थों में ऐसा वर्णन मिलता है।[17]

(ब) छान्दस से प्राकृत की उत्पत्ति :- डा. नेमीचन्द्र शास्त्री जैसे विचारकों का मत है कि संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ किसी एक ही स्रोत से विकसित होने से सहोदरा है।[18] पाश्चात्य-मनीषी डा.ए.सी. वुहलर[19] भी संस्कृत को शिष्ट समाज की भाषा और प्राकृत को जनसाधारण की भाषा मानते हैं। डा. पिशेल ने भी मूल प्राकृत को जनता की भाषा माना है तथा साहित्यिक प्राकृतों को संस्कृत के समान सुगठित भाषा माना है। इससे सिद्ध होता है कि संस्कृत एवं प्राकृत दोनों सहोदरा हैं जिनकी उत्पत्ति वैदिक भाषा या छान्दस् से हुई है।[20]

प्राकृत से संस्कृत की उत्पत्ति :- रुद्रट के काव्यालङ्कार के श्लोक की व्याख्या करते हुए नमिसाधु ने प्राकृत (अपभ्रंश भी) को सकल भाषाओं का मूल बतलाया गया है तथा उसे संस्कृत एवं अन्य भाषाओं का जनक बतलाया गया है। व्याकरण के नियमों से संस्कार किये जाने के कारण ही संस्कृत कहलाती है।

गउडवहो नामक महाकाव्य में वाक्पतिराज ने भी प्राकृत को महान् समुद्र के समान माना है और समस्त भाषाओं के साथ संस्कृत का जन्म भी प्राकृत से माना है।[21] इसी प्रकार राजशेखर ने भी प्राकृत को संस्कृत की योनि = उत्पत्ति स्थान माना है[22] और प्राकृत के विकास को इस प्रकार प्रकट किया है, कि– 1. प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्। 2. प्रकृतीनां साधरणजनानामिदं प्राकृतम्। 3. प्राक् कृतं प्राकृतम्। इन व्युत्पत्तियों से प्राकृत वैदिक भाषा की जननी भी सिद्ध होती है।

प्राकृत को ही आदि भाषा मानते हुए केतकर का मानना है कि– वैदिक भाषा का निर्माण प्राकृत से हुआ है। प्राकृतों के विविध रूपों में से एक रूप वैदिक भाषा का रूप लिया। कालक्रम में वैदिक का

रूपान्तरण लौकिक संस्कृत में हुआ और देश भर में लौकिक संस्कृत का भौगोलिक प्रसार होता गया।[23] इससे मिलता-जुलता विचार डा. माधव मुरलीधर देशपांडे ने प्रस्तुत किया है– "ऋग्वेदीय ऋचाओं की रचना करने वाले ऋषि अपने दैनिक व्यवहार में प्राकृत सदृश भाषा का व्यवहार करते होंगे।" प्राकृत की कुछ विशेषताएं ऋग्वेद के कुल शब्दों में, ध्वनियों में, प्रकृति-प्रत्ययों में और वाक्य रचनाओं में मिलती है।[24]

भाषा निरन्तर विकास करती जाती है यह सतत एवं अदृश्य प्रक्रिया है, जो हमेशा क्रियाशील रहती है दूसरी भाषा का प्रभाव एवं शब्द अन्यान्यों भाषा के साथ संयुक्त होते जाते हैं, भाषा टूटती है और फिर एक नवीन भाषा का संस्कार होता है। यह प्रक्रिया सरलता से कठिनता की ओर चलती है। ऋग्वेद प्राचीन होने के साथ उत्कृष्ट कोटि का साहित्य भी है, जो किसी समय विशेष की उत्पति नहीं होकर एक निरन्तर चलने वाली भाषा-विकास की परिणति है। भारतीय भाषा विज्ञान के मनीषी आचार्य किशोरीदास वाजपेयी भी भाषा विकास के संदर्भ में लिखते हैं कि– जिन ऋषियों ने वेद मंत्रों की रचना की, उन्होंने उसी समय वैदिक भाषा की भी रचना कर डाली थी। वह भाषा एक सुदीर्घ विकास-परम्परा का परिणाम है। इस संदर्भ में आचार्य वाजपेयी के निम्नलिखित तर्क विचारणीय हैं–

वेदों की भाषा का प्राकृत रूप क्या था, यह जानने के लिए निराधार कल्पना की जरूरत नहीं। वेदों की जो भाषा है उससे मिलती-जुलती ही वह प्राकृत भाषा होगी, जिसे हम भारतीय मूल भाषा कहते हैं। उस मूल भाषा को पहली प्राकृत भाषा समझिए। प्राकृत भाषा का मतलब है– जनभाषा। जब वेदों की रचना हुई, उससे पहले ही भाषा का वैसा पूर्ण विकास हो चुका होगा। तभी तो वेद जैसे साहित्य को वह वहन कर सकी। भाषा के इस विकास में कितना समय लगा होगा। फिर वेद जैसा उत्कृष्ट साहित्य तो देखिए। क्या उस मूल भाषा का या "पहली प्राकृत' की पहली रचना ही वेद हैं? सम्भव नहीं।

इससे पहले छोटा-मोटा और हल्का-भारी न जाने कितना साहित्य बना होगा, तब वेदों का नम्बर आया होगा। सो, वेदों की रचना के समय तक वह मूलभाषा पूरी तरह विकसित हो चुकी होगी और देश-भेद या प्रदेश-भेद से उसके रूप-भेद भी हो गये होंगे। उन प्रादेशिक भेदों में से जो कुछ साहित्यिक रूप प्राप्त कर चुका होगा, उसी में वेदों की रचना हुई होगी, परन्तु अन्य प्रादेशिक रूपों के भी शब्द प्रयोग ग्रहीत हुए होंगे।[25]

संस्कृत एवं प्राकृत का यह चिंतन भाषा-विज्ञान के लिए आज भी उतना ही विचारणीय है जितना कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था, परन्तु इस तर्क-वितर्क से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्राकृत भी उतनी ही प्राचीन भाषा है, जितनी की छान्दस् या वैदिक है। भाषा विज्ञान एवं प्राकृत भाषा के विद्वान डा. नेमीचन्द्र शास्त्री ने प्राकृत भाषा के विकास क्रम को समझाते हुए इसे तीन स्तरों में विभक्त किया है। प्रथम भाग 600 ई.पू. से 100 ई. तक का माना है, जिसमें प्राकृत के अनेक रूपों का विकास हुआ है। इन भाषाओं में 1. पाली, 2. पैशाची एवं चूलिका पैशाची, 3. अर्धमागधी (जैन-आगम की भाषा) अशोक के शिलालेख एवं अश्वघोष के नाटकों की भाषा को प्राकृत माना गया है। द्वितीय युग का समय काल 100 से 600 ईसवीं माना गया है। इससे भास एवं कालिदास के नाटकों की प्राकृत तथा 2. काव्य सेतुबन्ध आदि की प्राकृतें तथा 3. प्राकृत व्याकरणों द्वारा अनुशासित प्राकृत तथा परवर्ती जैन-ग्रन्थों की प्राकृतें इस युग की प्रमुख विकसित प्राकृतें मानी गई हैं। तृतीय युग में अपभ्रंश भाषाओं का सृजन हुआ– पाली एवं अपभ्रंश को प्राकृत से पृथक् भाषा के रूप में भी माना जाता है। इन अपभ्रंशों को भी प्राकृत भाषा परिवार के रूप में चार भागों मे विभक्त किया गया है– महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। वररुचि ने अपने प्राकृत प्रकाश में इन्हीं चार प्राकृत-प्रकारों का अनुशासन किया है।[26]

आचार्य हेमचन्द्र ने चूलिका पैशाची, आर्ष (अर्ध मागधी) और अपभ्रंश इन तीनों भेदों को मिलाकर 7 प्रकार की प्राकृतों का अनुशासन किया है। प्राकृतसर्वस्वकार मार्कण्डेय ने प्रथमतः भाषा के चार भेद किए है और फिर उनके अवान्तर भेदों को बतलाया है।

भाषा :- महाराष्ट्री, शौरसैनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी।

विभाषा :- शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, अभीरिकी और शाकी अपभ्रंश के भेदों की संख्या[27] बतलाई गई हैं वहीं पैशाची, कैकयी, शौरसेनी और पाञ्चाली– प्राकृत रूपों को माना है।[28] इसी प्रकार भरत मुनि ने मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसैनी, अधमागधी, वाह्लीका और (दाक्षिणात्य) महाराष्ट्री सात प्राकृतों को उल्लेख नाट्यशास्त्र में किया है।[29]

आर्य भाषा विकास में इन प्राकृत भाषाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। क्योंकि इन प्राकृत भाषाओं से समस्त अपभ्रंशों का जन्म हुआ और यह अपभ्रंश भाषाएं ही आधुनिक समस्त भारतीय भाषाओं की जननी मानी जाती है। भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र में डा. कपिल देव द्विवेदी ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास को समझाते हुए लिखा है कि– "आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास मध्यकालीन अपभ्रंश भाषाओं से हुआ। प्राचीन पांच अपभ्रंशों का विकास हुआ। इन पांच अपभ्रंशों के साथ ही ब्राचड एवं खस दो अपभ्रंशों को और भी लिया जाता है। ब्राचड का उल्लेख मार्कण्डेय ने किया है जबकि खस एक पहाड़ी (उत्तरी) भाग की भाषा थी– इस प्रकार इन सात अपभ्रंशों से पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती तथा महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी, मागधी अपभ्रंश से बिहारी बंगाली उड़िया, असमी, अर्धमागधी से पूर्वी-हिन्दी और पैशाची-ब्राचड़ खस से क्रमशः सिन्धी, पंजाबी एवं पहाडी भाषाओं का विकास माना जाता है।[30]"

मध्ययुग में ईसा की दूसरी से छठी शताब्दी तक प्राकृत भाषा का साहित्य में कई रूपों का प्रयोग हुआ। वैयाकरणों ने प्राकृत भाषा में भी कई नियमों द्वारा एकरूपता लाने का प्रयत्न किया, किन्तु प्राकृत में संस्कृत सदृश एकरूपता नहीं आ सकी। यद्यपि साहित्य में कृत्रिम प्राकृत का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इससे वह लोक से दूर हटने लगी थी, लेकिन जिन लोक प्रचलित भाषाओं से साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ वे लोक भाषाएँ अभी भी प्रवाहित हो रही थीं। उन्होंने नई भाषाओं को जन्म दिया, जिसे अपभ्रंश कहा गया। यह प्राकृत भाषा के विकास की तीसरी अवस्था है। प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का क्षेत्र प्रायः एक जैसा था, जिसमें एक विशेष प्रकार का साहित्य-सृजन हुआ।

विकास की दृष्टि से इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः कई विद्वानों ने प्राकृत संस्कृत को एक माना है। जबकि दोनों स्वतंत्र हैं। संस्कृत का प्रभाव प्राकृत एवं अपभ्रंश दोनों पर है। किन्तु प्राकृत की भांति अपभ्रंश का आदर्श संस्कृत भाषा नहीं है। अपभ्रंश जन सामान्य की भाषा का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करती है।[31] इसे आभीरी, भाषा, देशी एवं अवहट्ट आदि नाम भी समय-समय पर दिये गये। ये सब नाम अपभ्रंश के विकास को सूचित करते हैं। कहा गया, जो अपभ्रंश एवं हिन्दी को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी है, यह आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की पूर्ववर्ती अवस्था है।

अपभ्रंश का अर्थ है– च्युत, भ्रष्ट, स्खलित, विकृत या अशुद्ध। अपभ्रंश को ही प्राचीन वैयाकरणों ने प्राकृत का भेद स्वीकार किया है। हेमचन्द्र आचार्य ने इसकी प्रमुख विशेषता बतलाकर इसे शौरसैनीवत् कहा है। इसका साहित्य के रूप में प्रयोग पांचवी शताब्दी के पूर्व होने लगा था। प्राकृत चन्द्रिका में इसके देशादि, भाषादि 27 भेदों का उल्लेख किया है। जिसमें व्राचड, लाटी, वैदर्भी, उपनागर, नागर, बार्बर, अवन्ति, पांचाली, टाक्क, मालवी, कैयसी, गोडी, कोन्तली, ओडी,

पाश्चात्या, पाण्डया, सैहली, कालिङ्गी, प्राच्या, कर्णाटी, काञ्ची, द्राविड़ी, गोर्जरी, अमीरी, मध्यदेशीया एवं वैतालिकी है। इन 27 भेदों में से विद्वानों ने और तीन भेदों में विभक्त किया, जिसमें नागर, उपनागर और ब्राचड् है। अनेकों विद्वान अपभ्रंश को एक स्वतन्त्र भाषा मानते है और अपभ्रंश को प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास मानते हैं। पतञ्जलि ने अपने महाकाव्य में संस्कृत से भिन्न सभी असिद्ध गावी, गोणी, गोता आदि प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्दों को सामान्य रूप से अपभ्रंश कहा है। वस्तुतः प्राकृत का अन्तिम चरण अपभ्रंश माना जाता है।

भारतीय परम्परा के कोशकारों ने अपभ्रंश का अर्थ एवं उत्पत्ति के बारे में लिखा कि यह शब्द भ्रंश् धातु में अप उपसर्ग के योग से बना है। यह दोनों शब्द अप-उपसर्ग और भ्रंश धातु, दोनों का प्रयोग अधः पतन, गिरना, विकृत होना आदि के अर्थो में प्रयुक्त होता है। संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थों में यह शब्द अपभ्रंश एवं अपभ्रष्ट के नाम से मिलते हैं। इसी प्रकार प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रन्थों में अवहंस अवब्भंस, अवहट्ट, अवहत्थ, अवहर आदि नामों से इसका उल्लेख मिलता है।[32]

डा. नामवर सिंह अपभ्रंश को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि– भाषा के सामान्य मापदण्डों से जो शब्द रूप भ्रष्ट हो "चूक जायें" वह अपभ्रंश है। यह आवश्यक है कि भाषा का एक सामान्य मापदण्ड बोलियों के अनेक विकृत शब्द रूपों से स्थिर होता है। किन्तु उसके साथ यह भी निश्चित है कि लोक व्यवहार में उस सामान्य मान के विकार होते रहते हैं। संभव है प्रतिमान पर विश्वास रखने वाले विद्वानों ने ऐसे विकारों को अपभ्रंश कहने की परिपाटी बना दी हो।[33]

कुछ शताब्दियों तक प्राकृत में विभिन्न प्रकार का साहित्य सृजन होता रहा– यह एक भाषा-वैज्ञानिक सत्य है कि लोक भाषा हमेशा बदलती चलती है। और जो बदलती चलती है वही लोक भाषा होती

है। प्राकृत के बाद धीरे-धीरे एक नई भाषा अपभ्रंश का जन्म लोक-भाषा के रूप में हुआ और ईसा की पांचवी-छठी शताब्दी में वह अपभ्रंश भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए सशक्त माध्यम बन गई।

पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने अपभ्रंश का अर्थ नीचे बिखरना (लोक में विकसित होना) बताया है और कहा है कि– अपभ्रंश एवं देशी भाषा और कुछ नहीं बांध से बचा हुआ वह पानी है, जो नदी मार्ग पर तो चला आया है परन्तु बांध तक नहीं पहुँचा है। उनका आशय है कि संस्कृत शब्द एक है तो व्यवहार के प्रवाह में पानी की तरह सरकने वाले अपभ्रंश शब्द अनेक हैं।[34]

जो अपभ्रंश शब्द ईसा से दो शताब्दी पूर्व अपगमनीय प्रयोग के लिए प्रयुक्त होता था, वही ईसा की छठी शताब्दी तक आते-आते एक साहित्यिक भाषा संज्ञा बन गया।

यह भाषा की निरन्तर विकासशील प्रवृति की परिणति है, जो आज भी एक अदृश्य रूप में क्रमिक विकास की ओर बढ़ रही है।

सन्दर्भ :

1. अणीयस्त्वाच्य शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थ लोके। - निरुक्त 1/1
2. भारतीय भाषा-विज्ञान - 8 आचार्य किशोरी दास वाजपेयी, पृष्ठ. 6
3. An Interoduction to campratire philology - Page - 4
4. Speeh and lunguage, Page - 1
5. भाषा रहस्य : श्यामसुन्दर कृत अनुवाद पृष्ठ. सं. 7
6. 1. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः 2. तस्माद्यजुस्तमादजायत (क) ऋग्वेद 10.90.9, (ख) ऋग्वेद 8.100.11
7. शब्दकल्पद्रुप - खण्ड-3
8. न्यायकोश-पृ. स. 627
9. सर्वदर्शनसंग्रह पृ. सं. 164
10. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश-आप्टेकृत
11. भाषा विज्ञान डा. कर्णसिंह पृ. सं. 8

12. अष्टाध्यायी 1.3.48 (पाणिनी)
13. Element of science of language by taraparwala Page - 21
14. राजस्थनी सबद कोस री भूमिका-पृ.6
15. राजमल बोरा, प्राकृत भाषा निबन्ध से
16. सिद्दहेमशब्दानुशासन 8.1.1
17. सिद्दहेमशब्दानुशासन 1.1
प्राकृत संस्कृतम्। तत्र भव तत आगतम वा प्राकृत
18. प्राकृत भाषा साहित्य का इतिहास पृष्ठ संख्या 19
19 प्राकृत दीपिका की भूमिका वही 8
20. प्राकृत दीपिका की भूमिका (8)
21. गोहवाहो-93 सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेतों य णेंतिवायाओ।
एति समुद्ध चिय णेंति सामराओ च्चिय जलाई।
22. स्याद्योनि : किल संस्कृतस्य
सुदशां जिहसु वन्मोदते-बालरामायण 48
23. राजमल बोरा:- प्राकृत भाषा निबन्ध से
24. राजमल बोरा:- प्राकृत भाषा निबन्ध से
25. वही
26. प्राकृत दीपिका की भूमिका (8)
27. प्राकृत भाषा साहित्य का इतिहास पृ.स. 19
प्राकृत दीपिका: की भूमिका
28 प्राकृत सर्वस्व 1.1 (मार्कण्डेय)
29 मागध्यवन्ति प्राच्या शौरसेन्यर्द्ध मागधी।
बांह्लीक दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता।।
नाट्यशस्त्र 17 48
30. भाषा-विज्ञान एव भाषा शास्त्रे
डा. कपिल देव शास्त्री - पृ.सं. 475
31 प्राकृत अपभ्रंश एवं अन्य भारतीय भाषाएं पृ.सं. 5
32. अपभ्रंश भाषा और व्याकरण पृ.स. 4
33. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ.स. 20
34 पुरानी हिन्दी-द्वितीय खण्ड-पृ.स. 243, 44

वरिष्ठ शोध अध्येता
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

चाँदखेड़ी का विचित्र "जैन-मन्दिर"

– ललित शर्मा

औरंगजेब का नाम आते ही व्यक्ति के मानस पटल पर एक ऐसे शासक की तस्वीर उभर आती है जिसने भारत के कई देवालयों को क्रूरता से ध्वंस करवाया। लेकिन इसे आश्चर्य कहें या कुछ और कि राजस्थान में एक स्थान ऐसा भी है जहाँ मूर्ति भंजक औरंगजेब के समय में एक पूरे ही मन्दिर का निर्माण हुआ और वह स्थान है- दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में कोटा जंक्शन (कोटा) से 85 कि.मी. दक्षिण में स्थित झालावाड़ जिले के खानपुर कस्बे के निकट चाँदखेड़ी में। चाँदखेड़ी नामक यह स्थल व यहां का यह जैन मन्दिर मुख्यालय झालवाड़ से 35 कि.मी. दूर पूर्व में बस मार्ग से सीधा जुड़ा हुआ है। जो रूपली नदी के किनारे स्थित है।

इस मन्दिर के मूल गर्भगृह में एक विशाल तल-प्रकोष्ठ है जिसमें भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव) की लाल पाषाण की पद्मासनावस्था की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यह प्रतिमा इतनी अधिक मनोज्ञ है- मानो मुँह बोलती है। श्रवणबेलगोला के बाहुबली की प्रतिमा के उपरान्त भारत की यह दूसरी मनोज्ञ प्रतिमा है।[1] दरअसल यह मुख्य प्रतिमा इस क्षेत्र से 6 मील दूर बारहा पाटी पर्वतमाला के एक हिस्से में बरसों से दबी हुई थी।[2] सांगोद निवासी किशनदास मड़िया बघेरवाल (तत्कालीन दीवान कोटा राज्य) को एक रात स्वप्न में बारहापाटी से प्रतिमा निकालने का संकेत मिला।[3] तदनुरूप प्रतिमा बैलगाड़ी में रखकर सांगोद लाई जा रही थी कि मार्ग में रूपली नदी पर हाथ-मुँह धोने के लिये गाड़ी रुकी। कुछ समय बाद बैल जोतकर गाड़ी चलाने का उपक्रम किया गया तो गाड़ी एक इंच भी न सरक कर वहीं स्थिर हो गई। गाड़ी को खींचने के लिये कई बैलों का बल प्रयोग किया गया परन्तु वह

निष्फल ही रहा। अतः नदी के पश्चिमी भू-भाग पर उक्त मन्दिर का निर्माण करवाया गया।[4] उस समय बादशाह औरंगजेब ने अपने अधिकृत साम्राज्य में मन्दिर बनवाने की सख्त मनाही करवा रखी थी। उसने सैंकड़ों देवालयों को ध्वस्त करवा दिया था और जिन लोगों ने नये मन्दिर बनवाने के प्रयास किये, उन पर अत्याचार किये जाते थे तब चाँदखेड़ी में मन्दिर बनाने की खबर औरंगजेब जैसे बादशाह से कैसे छिपी रह सकती थी? परन्तु उस समय वह भारत के दक्षिणी प्रदेश के युद्धों में उलझा हुआ था और राजपूतों के साथ उसकी कुछ वर्षो पूर्व ही लड़ाई हुई थी। इसके अलावा उसी समय कोटा के महाराव किशोर सिंह हाड़ा तन-मन से औरंगजेब के साथ युद्ध में सहयोगी थे। इसी कारण से उसने चांदखेड़ी के निर्माणाधीन मन्दिर की ओर ध्यान नहीं दिया। ठीक ऐसे समय में हाड़ौती में मन्दिर निर्माण का काम कोटा के शासकों के हेतु मुगल दरबार में प्रतिष्ठा का परिचायक है। उक्त जैन मन्दिर वाला क्षेत्र कोटा राज्य के आधीन था। इससे पूर्व कोटा के हाड़ा राजपूत शासकों ने अकबर, जहांगीर शाहजहॉ व औरंगजेब जैसे शासकों के लिए अपनी जान जोखिम में डालकर उनके पक्ष में युद्ध किये थे। इस कारण मुगल बादशाह कोटा के हाड़ा शासकों से काफी प्रभावित थे और उन्हें महत्वपूर्ण पद प्रदान किये थे। लेकिन फिर भी अजमेर का सूबेदार बार-बार अपने अहदियों को कोटा राज्य में भेजकर ताकीद किया करते था कि- "मन्दिर बनवाना बंद किया जाये।" इस समय चूंकि औरंगजेब सुदूर दक्षिण में था और अजमेर के सूबेदार को येन-केन प्रकारेण सन्तुष्ट रखना असंभव था फिर भी किशनदास मड़िया को रह-रह कर यह भय था कि किसी दिन यह मन्दिर न तुड़वा दे। इसलिये उन्होंने तरकीब से इस मन्दिर को विचित्र तरीके से **मस्जिदा- कार** रूप में निर्मित करवाया अर्थात् मूल मन्दिर जमीन के भू-गर्भ में ही बनवाया।[5] क्षेत्र के द्वार से प्रवेश करने पर एक किलेनुमा अहाता है जिसकी बाहरी बनावट मस्जिदाकार है, मूलतः यह उस समय मुस्लिम आक्रमणकारियों से बचाव का प्रयास थी, जिससे वे इसे मस्जिद समझ

कर न तोड़ सकें। अहाते के मध्य समवशरण महावीर स्वामी के 'कैवल्य-ज्ञान' की प्राप्ति के स्वरूप का मन्दिर है। इसमें आध्यात्मिकता के साथ प्रतिमा कला का भी सुन्दर और अनुपमेय संगम है। इसकी प्रतिष्ठा आचार्य देशभूषण जी महाराज के सान्निध्य में सम्पन्न हुई थी। इस मन्दिर में 8 फीट ऊँचा और डेढ़ फीट का संगमरमर का सुन्दर मान स्तम्भ है जिसके शीर्ष पर भगवान महावीर की तपस्या भाव की चर्तुमुखी प्रतिमा है। इसके नीचे महावीर की माता के सोलह स्वप्नों का अनुपम स्वप्न कथा संसार निर्मित है।

इस मन्दिर के वैभव से अभिभूत हो जब विगत 7 सितम्बर 1983 को राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल ओ.पी. मेहरा यहाँ आये तो उन्होंने इस मन्दिर के बारे में यह लिखा कि- "हमारी इच्छा होती है कि इस पावन स्थल पर हम बार-बार दर्शन हेतु आते रहें।"- ऐसी मनोज्ञ प्रतिमा जिसमें भक्ति और शांति की सरस धारा निरन्तर प्रवाहित होती है, उनके दर्शन सौभाग्य से ही प्राप्त होते हैं और जिन्हें होते हैं उनका जीवन भी धन्य हो जाता है।[6] समवशरण के बाद के अहाते में यात्रियों को ठहरने के दर्जनों सुविधा युक्त हवादार कक्ष बने हुए हैं। इसी अहाते के मध्य यह विचित्र जैन मन्दिर बना हुआ है। इसके चारों कोनों पर चार सुन्दर छत्रियां बनी हुई है। मन्दिर के मुख्य द्वार पर एक चौंखुटा व 10 फीट ऊँचा कीर्तिस्तम्भ है इसमें चारों ओर दिगंबर तीर्थकरों की सुन्दर मूर्तियाँ बनी हुई हैं। मध्य में एक ऊँचा अभिलेख है।[7] इसमें संवत् 1746 की माघ शुक्ला को यहाँ पंचकल्याणक कराने का उल्लेख है। एक लेख में आमेर गादी के भट्टारक स्वामी जगत् कीर्ति का पूरा लेख उत्कीर्ण है। द्वितीय लेख भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का है।[8] मुख्य द्वार के बाद मन्दिर का अंतःभाग आता है। जो सचमुच में मन्दिर का मूल-भाग प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा नहीं है और यह भूल-भुलैया ही इस मन्दिर की विचित्र निर्माण शैली है। मूलतः इस भाग में पंच-वेदियां एवं एक गन्धकुटी बनी हुई है। वेदियों में 24 तीर्थंकरों की मूर्तियाँ

स्थापित हैं। मूल गंधकुटी में सुपार्श्वनाथ स्वामी की पद्मासन प्रतिमा है। ये सभी एक चौकोर बरामदे में स्थापित है। इसी बरामदे में तीन वेदियॉ गर्भ गृह में हैं इसमें प्रथम वेदी में 3 पाषाण प्रतिमाएँ, द्वितीय में बाहुबली की 5 फीट की खड्गासन प्रतिमा है। जो कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। तीसरी और अन्तिम वेदी में आठ जैन-प्रतिमाएँ है। इसी गर्भगृह के दाँयी ओर एक गुप्त मार्ग बना हुआ है जो मुख्य गर्भगृह को जाता है इसे 'तल-प्रकोष्ठ' कहा जाता है। यह प्रकोष्ठ ऊपर से 25 फीट नीचे भू-गर्भ में है। इस गर्भगृह में उतरनें पर बॉयी ओर की दीवार में चतुर्मुखी चक्रेश्वरी देवी की सुन्दर प्रतिमा है, जबकि सामने की दीवार पर चतुर्भुजी अंबिका की प्रतिमा है। गर्भ गृह के बाँयी ओर एक अन्य जैन खड्गासन प्रतिमा है। गर्भ-गृह के बाँयी ओर के निकट एक फलक में 55 जैन प्रतिमाएँ दोनों ओर ध्यानासनों में प्रतिष्ठित हैं। इसी के मध्य मूल रूप तीर्थंकर महावीर स्वामी की अत्यन्त कलापूर्ण एवम् मनोज्ञ-प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

मुख्य गर्भगृह में एक विशाल वेदी पर मूल नायक भगवान आदिनाथ (ऋषभदेव) की लाल पाषाण की पद्मासनावस्था तथा पद्मांजलि मुद्रा की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसी अनुपम प्रतिमा के अधखुले नेत्रों एवं धनुषाकार भौहों का अंकन अत्यन्त मन-मोहक है। प्रतिमा के वक्ष पर 'श्रीवत्स' है एवं हाथ-पैरों में पद्म बने हुए हैं। इसके दक्षिण पाद पर एकलेख भी उत्कीर्ण है।[9] जिस पर विक्रम संवत् 1746 वर्षे माघ सुदी 6 सोमवार को मूलसंघ भट्टारक स्वामी जगतकीर्ति द्वारा (खींचीवाड़ा में) चाँदखेड़ी के नेतृत्व में महाराव किशोर सिंह के राज्य में बघेरवाल वंशी भूपति संघवी किशनदास बघेरवाल द्वारा बिम्ब प्रतिष्ठा कराई जाना अंकित है। यह प्रतिमा 6.25 फीट ऊँची एवं 5 फीट चौड़ी है। इसके दर्शन करते ही मन में अपूर्व वीतरागता और भक्ति शान्ति के भाव उत्पन्न होते हैं। प्रतिमा का निर्माण काल अंकित नहीं है। मन्दिर के वाम स्थल पर एक अंकन लेख व प्रतिमा पर संवत् 512 अंकित है,

परन्तु उसका मूल आधार अभी तक ज्ञात नहीं हो पाया है। हालांकि यह क्षेत्र अतिशयक्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध है।

झालरापाटन की प्राचीन और प्रख्यात फर्म बिनोदी राम-बाल चन्द के वंशज दिगम्बर जैन रत्न उद्योगपति श्री सुरेन्द्र कुमार सेठी का मानना है कि चांदखेड़ी को 18 वीं सदी में देश भर में वही स्थान प्राप्त था जो प्राचीन काल में अयोध्या, मथुरा श्रावस्ती और शत्रुंजय जैसे पवित्र स्थानों को था।[10] सारतः चांदखेड़ी के इस भव्य और औरंगजेब कालीन विचित्र जैन मन्दिर में जैन धर्म के सारे आयोजन बड़ी ही धूमधाम से मनाये जाते हैं। देश के सुदूर राज्यों से जैन धर्म के सैकड़ों परिवार एवं अब पर्यटक भी यहाँ आने लगे है। वे इस मन्दिर की विचित्र निर्माण शैली और सुन्दर प्रतिमा के दर्शन कर अपनी धार्मिक यात्रा और पर्यटन पूर्ण करते है। इस मन्दिर में करीब 546 बिम्ब प्रतिष्ठित है।[11] वर्तमान में मन्दिर में अनेक प्रकार के नवीन कार्य चल रहे हैं जिनसे यह मन्दिर और भी सुन्दर हो गया है।

जैकी स्टूडियो, 13-मंगलपुरा स्ट्रीट,
झालावाड़ (रजि.) 326001

पुस्तकीय एवं चर्चा सन्दर्भ-

1. श्री आदिनाथ दिगंबर अतिशयक्षेत्र चांदखेड़ी स्मारिका 1987, पृष्ठ-2
2. भारत के दिगंबर जैन तीर्थ, चौथा भाग, बलभद्र जैन-1978, पृष्ठ-31
3. बघेरवाल जाति का इतिहास डा. विद्याधर जोहरापुरकर-2001 पृष्ठ-77 (श्री निखिलेश सेठी- विनोद भवन झालरापाटन से प्राप्त तदर्थ आभार)
4. जैन संस्कृति कोष-प्रथम भाग (एनसाईक्लोपिड़िया) भागचद जैन, पृष्ठ-521
5. कोटा राज्य का इतिहास-प्रथम भाग- डा. एम.एल. शर्मा, पृष्ठ-220
6. मन्दिर की विजिटर बुक-1988 ई.
7. मन्दिर में लगा अभिलेख

8. निखिलेश सेठी से प्राप्त एक दुर्लभ पुस्तक एवं कोटा राज्य परिशिष्ट संख्या-11 पूर्वोत्तक
9. प्रतिमा पर अंकित लेख व मन्दिर के प्रथम भाग की दांयी पट्टिका पर लगा लेख
10. विनोद भवन झालरा पाटन के उद्योगपति विद्वान श्री सुरेन्द्र कुमार जी सेठी से ली गई। जैन-धर्म विषयक एक गम्भीर चर्चा के आधार पर
11. पूर्वोत्तक वर्णित मन्दिर स्मारिका-1987, पृष्ठ-3

आदर्श गृहस्थ

न्यायोपात्तधनो यजन्गुणगुरून् सद्‌गीस्त्रिवर्गं भज
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्म विधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्।।

– सागारधर्मामृत, 1/11

न्यायपूर्वक धन कमाने वाला, गुणों में श्रेष्ठ लोगों का सम्मान करने वाला, सत्यवक्ता, धर्म-अर्थ-काम का विरोध रहित सेवन करने वाला, तीनों पुरुषार्थों के योग्य स्त्री, ग्राम एवं घर से युक्त, लज्जालु, शास्त्रोक्त आहार-विहार वाला, आर्यजनों की संगति करने वाला, बुद्धिमान, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, धर्म विधि का श्रोता दयालु एवं पापभीरू व्यक्ति को गृहस्थ धर्म का आचरण करना चाहिए अर्थात् वही श्रावक धर्म को धारण करने योग्य है।

चन्द्रगुप्त मौर्य व उनकी कृति सुदर्शन झील

– प्रतिष्ठाचार्य संदीप कुमार जैन

सुदर्शन झील पश्चिम भारत के सौराष्ट्र देश के गिरिनगर स्थित गिरनार पर्वत की प्रान्तीय नदियों पर बांध बांधकर चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा बनवाई गई थी। इस झील के सन्दर्भ में समय-समय पर अनेक विद्वानों ने लिखा है किन्तु कहीं पर भी पूर्ण जानकारी न मिलने से इस झील का इतिहास अधूरा जान पड़ता है। इस लेख के माध्यम से इस झील व झील के निर्माता की विस्तृत जानकारी देने का प्रयास किया गया है। आशा है पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे। इसके लिए सर्वप्रथम मौर्य वंशी सम्राट चन्द्रगुप्त के इतिहास पर एक दृष्टि डालनी अति आवश्यक है।

कलिंगजिन (आद्य तीर्थकर वृषभदेव) मूर्ति पूजक एवं जैन धर्मोपासक नंद वंश के अंतिम नरेश धननन्द को पराजित कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलीपुत्र (वर्तमान पटना) के राज सिंहासन को एक धार्मिक और शक्तिशाली सम्राट के रूप में सुशोभित किया व मगध में मौर्य वंश के शासन की स्थापना की।

कौटिल्य अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर तथा बौद्ध साहित्य के अनुसार आप एक क्षत्रिय राजा थे।[1] विष्णुपुराण एवं मुद्राराक्षस के अनुसार उसे नन्दराजा की शूद्रा दासी मुरा या धर्मघाती जाति की पत्नी से उत्पन्न कहा गया है।[2]

इतिहासकार बी.पी. सिन्हा की मान्यता है कि मगध उस काल में आर्येतर समाज का दुर्ग था तथा आर्यगण उस क्षेत्र के निवासियों को व्रात्य कहते थे। अब क्योंकि चन्द्रगुप्त विस्तृत मगध क्षेत्र का स्थानीय नायक था, अतः वह उपेक्षित रहा।[3] पाश्चात्य विद्वान् राईस डेविड्स के

अनुसार चूँकि चन्द्रगुप्त जैन धर्मानुयायी हो गया था इसी कारण जैनेतरों द्वारा वह अगली दस सहस्राब्दियों तक इतिहास में नितान्त उपेक्षणीय रहा।[4] इतिहासकार टामस इस सम्राट को जैन समाज का महापुरुष मानते हैं[5] सुप्रसिद्ध विद्वान रैप्सनने इस सम्राट को इतिहास का लंगर (The Sheet anchor of Indian chronology) कहा है।[6]

यूनानी दूत मैगिस्थिनीज भी यही लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त ने ब्राह्मणों के सिद्धांत के विरोध में श्रमणों (जैनों) के उपदेश को स्वीकार किया था।[7] यूनानी ग्रीक इतिहासकारों ने इसे सैण्ड्रोकोट्टस माना है[8] जिसकी पुष्टि सर विलियम जोन्स भी करते हैं।[9]

उपरोक्त अनेक विद्वानों व पुराणकारों के अध्ययन से पता चलता है कि मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त भारतीय इतिहास का अद्वितीय अमिट और अविस्मरणीय प्रकाश स्तम्भ है। ऐसे प्रतिभाशाली उदार और सौम्यदृष्टि सम्राट ने हारकर भागते हुए नन्द नरेश राजा धननन्द की पुत्री सुप्रभा के आग्रह पर राजकुमारी सुप्रभा के साथ विवाह कर उसे मगध राज्य की सम्राज्ञी बनाया। राज्य आरोहण के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने भारतीय पश्चिमी सीमा को यूनानी परतन्त्रता से मुक्त कराकर अपनी शक्ति और समृद्धि को उत्तरोत्तर वृद्धिंगत किया। विशाल वाहिनी के बल पर उसने सम्पूर्ण आर्यावर्त (उत्तरी भारत) पर अपनी विजय पताका फहराई। मालवा गुजरात और सौराष्ट्र देश पर विजय प्राप्त कर उसने नर्मदा तक साम्राज्य का विस्तार किया।[10] यूनानी शासक सिकन्दर के पश्चात् उसका सेनापति सिल्यूकस मध्य एशिया के प्रान्तों का शासक बना और वह भी सिकन्दर के समान भारत विजय करने आया परन्तु दुर्भाग्यवश उसे सम्राट चन्द्रगुप्त से अपमानजनक हार कर मुँह की खानी पड़ी। चन्द्रगुप्त ने उसके प्रयासों को विफल कर दिया। विवश होकर सिल्यूकस को सन्धि करनी पड़ी तथा पंजाब, सिंध अफगानिस्तान, सिंधू नदी के पश्चिम में एरियाना (हेरात, आफगानिस्तान का प्रान्तीय नगर)[11], पेरापेनीसड़ाई एरिया (काबुल घाटी), (प्राचीन कुंभा अथवा काबुल नदी

के किनारे बसा नगर, जो आधुनिक अफगानिस्तान की राजधानी है।)[12] [अराकोसिया (कन्दहार (अफगानिस्तान का दूसरा बड़ा नगर, जो एक महत्वपूर्ण मंडी भी है)][13] बलूचिस्तान (भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिम में किरथर पर्वत श्रृंखला के उस पार स्थित)[14] आदिस्थान सम्राट को समर्पण कर दिए।[15]

सम्राट के इस बल को देखकर सिल्यूकस ने अपनी पुत्री हेलेन का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया तथा चन्द्रगुप्त ने सिर्फ 500 हाथी सेनापति सिल्यूकस को उपहार स्वरूप भेंट दिए।[16] सिल्यूकस का दर्प चूर कर उत्तरपश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। समस्त उत्तरीय भारत को एक समुद्र से दूसरे समुद्र से मिलाकर उस पर एक छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया।[17] इन्हीं उपलब्धियों के कारण चन्द्रगुप्त की गणना भारतीय इतिहास के महान और सर्वाधिक सफल सम्राटों में होती हैं।[18]

युद्ध विजय के लगभग 2 वर्षों के उपरांत सिल्यूकस निकेतर ने यूनानी राजदूत मेगस्थनीज को पाटली पुत्र दरबार में भेजा था। उसने अपनी इंडिका नामक पुस्तक में पाटली पुत्र नगर के वर्णन के साथ-साथ उस समय के रीति-रिवाजों का वर्णन किया था।[19]

उसके अनुसार यह नगर सोन और गंगा नदी के संगम पर (आधुनिक दीनापुर के निकट) बसा था तथा इसका महल ऐश्वर्य और वैभव में सूसा और इकबताना के महलों को भी मात कराता था।[20] इस नगर के चारों तरफ एक काठ की दीवार बनी थी, जिसमें 64 फाटक तथा 570 बुर्जियाँ थी। इस दीवार के चारों तरफ गहरी खाई थी, जिसमें सोन नदी का जल भरा रहता था।[21] मौर्य सम्राट के शासनकाल में पाटली पुत्र को भारतीय साम्राज्य का केन्द्रस्थान प्राप्त होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और यह बहुत समय तक स्थित भी रहा।[32]

तीर्थंकर वृषभदेव से भगवान महावीर की परंपरा के सूत्रधार पंचम अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी के शिष्य जैन मतावलंबी सम्राट्

मौर्य ने अपने शासन का सिद्धान्त प्रजाजन का कल्याण एवं नागरिक सुविधाओं को उपलब्ध कराने का रखा था। भ. ऋषभदेव की षट्क्रिया में प्रधान कर्म कृषि कार्य को बढ़ावा देने के लिए अनेक प्रयत्न किए थे। जिनमें दूरस्थ प्रांतों में खेती के लिए सिंचाई के साधन उपलब्ध कराए गए थे। राज्य में सिंचाई आदि के सर्व सुलभ साधनों का प्रयोग किया जाता था।

कमलापति त्रिपाठी का कथन है कि मौर्यकाल में सिंचाई के लिए चार प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता था- हाथों द्वारा सिंचाई करना, कंधों द्वारा पानी ले जाकर सिंचाई करना, स्रोत से यंत्रों द्वारा सिंचाई करना तथा नदी सरोवर तालाब और कूपों द्वारा सिंचाई करना।[23] त्रिपाठीजी आगे कहते हैं कि मौर्य सम्राट के काल में पश्चिमीय प्रान्त के शासक पुष्यगुप्त ने गिरिनगर की पहाड़ी की एक नदी पर बांध बनवाया था। जिसके कारण वह झील रूप में परिवर्तित हो गई और उसका नाम सुदर्शन झील रखा गया।[24]

भारतीय इतिहास कोष के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने सौराष्ट्र में पुष्यगुप्त नामक एक वैश्य को अपना राष्ट्रीय प्रतिनिधि नियुक्त किया था, जिसने वहाँ की एक नदी पर बांध बनाकर प्रसिद्ध सुदर्शन झील का निर्माण कराया।[25]

जे.एच. दबे के अनुसार चन्द्रगुप्त इस झील का निर्माण किसी अज्ञात राजा ने कराया था, जो अपरकोट से अश्वत्थामा गिरि तक स्वर्ण सिक्ता और पलासिनी नदी को घेरती हुई 268 एकड़ भूमि में बनी थी।- From the edicts of Ashoka it appears that this place and the town of Junagarh were famous during Maurgan times. On this very stone Containing edicts of Ashoka there is the inscriptiopn of the 2nd century A.D. of Kshatrapa Rudradaman. It records the repairing of the sudarshan talao, which was originally built by some unknown king, repaired by Ashoka and subsequently further repaired by Rudradaman and Skanda Gupta. The Gupta

Emperor through his victory, Chakra Patila, again repaired this talao in A.D.455-56.

Scholars believe that this sudarshana lake started from the Aswatthama hill, went up to the walls of uperkot, and was bounded by river Suvarna Rekha or Sonarekh and river Palasini. The Area of this lake was considered to be 268 acres.

चन्द्रगुप्त के राज्य में कृत्रिम नहरों का निर्माण करके कृषि कार्य में सहायता पहुँचाई जाती थी। नदियों पर बांध बांधे जाते थे। सरोवरों कूपों के निर्माण के साथ-साथ उनकी मरम्मत भी करवाई जाती थी। वर्षा के जलको एकत्रित करने के लिए नदियों के किनारे झीलें बनवाई जाती थीं, क्योंकि जल ही खेती बाड़ी का आधार था। इसलिए इस बात का पूरा प्रबन्ध किया जाता था कि प्रत्येक मुनष्य को आवश्यकतानुसार पर्याप्त जल भी उपलब्ध हो सके और जल की अधिकता से राज्य में खेती व व्यापार की हानि भी न हो सके।

इसी भावना से प्रेरित होकर मौर्य सम्राट ने ई.पू. 372 में उज्जयिनी को राजधानी बनाकर दक्षिण देशों को दिग्विजय करने के लिए प्रयाण किया और सौराष्ट्र नगर में प्रवेश किया। प्रथमतः गिरनार पर्वत पर विराजित भगवान नेमि जिन की वन्दना की पश्चात् पर्वतराज पर निर्ग्रन्थ मुनियों के निवास के लिए वसतिका (गुफा) का निर्माण कराया, जो चन्द्रगुफा के नाम से विख्यात है।

तथा पर्वतराज की तलहटी में अश्वत्थामा गिरि से अपरकोट तक अपने राज्यपाल "पुष्यगुप्त" वैश्य की देख-रेख में आस-पास के क्षेत्रों में सिंचाई करने हेतु पर्वतीय नदी सुवर्णरिखा या सोनरेखा (स्वर्णसिल्का) और पलासिनी नदी पर बांध बांधकर 268 एकड़ भूमि में "सुदर्शन" नामक विशाल झील का निर्माण कराया।

इस झील का नाम सुदर्शन रखने का एक धार्मिक मन्तव्य है।

प्रत्येक तीर्थकर के काल में दस दस अंतःकृत (उपसर्ग) केवली होते हैं। भगवान महावीर के शासनकाल के दस अंतःकृत केवलियों में से पाँचवें अंतःकृत केवली का नाम 'सुदर्शन' था। सुदर्शन पूर्व भव में सेठजी के यहाँ गोप नामक ग्वाला थे। ये एक समय गंगा नदी में फंस गए और महामंत्र का स्मरण करते-करते प्राण निकल गए। उस मंत्र के प्रभाव से उसी सेठजी के घर में पुत्र उत्पन्न हुए। अपने जीवन में मित्र-पत्नी, राजपत्नी (रानी) वेश्या आदि अनेकों स्त्रियों की कुदृष्टि से बचते हुए उपसर्ग सहते रहे और महामंत्र के प्रभाव से बचते रहे। अन्त में संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर आत्म कल्याण कराने वाली दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर श्मशान में ध्यानारूढ़ हो गए। वहाँ भी व्यंतरी के उपसर्ग को सहना पड़ा। उपसर्ग विजयी मुनिराज ने घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त किया तथा व्यंतरी ने भी उपदेश ग्रहणकर सम्यक्त्व भाव धारण किया। अपनी आयु को पूर्ण कर उपसर्ग-विजयी केवली भगवान सुदर्शन ने मुक्ति-रमा का वरण किया।[27] उन केवली भगवान सुदर्शन की निधीधिका (चरणक्षत्री) मगधाधिपति सम्राट मौर्य की राजधानी पटना के गुलजार बाग में बनी हुई थी। सम्राट मौर्य संसारी बैर भाव को भुलाकर मोक्षपद में स्थित कराने वाले महामंत्र के आराधक थे और सुदर्शन केवली के उज्ज्वल चारित्र, उपसर्ग और महामंत्र के प्रभाव से भी अत्यंत प्रभावित थे। संभवतः उन्हीं की स्मृति स्वरूप केवली सुदर्शन के नाम पर स्वर्णसिक्ता और पलासिनी नदी पर बांध बांधकर बनने वाली झील का नाम "सुदर्शन झील" रखा गया जो सम्राट् के पूर्व से पश्चिम तक के एक सूत्र शासन का प्रतीक थी।

सम्राट् ने अनेक स्थलों पर धर्मायतनों का निर्माण कराकर सौराष्ट्र मार्ग से होते हुए महाराष्ट्र में प्रवेश किया तथा महाराष्ट्र कोंकण, कर्नाटक, तमिलदेश पर्यन्त समस्त दक्षिण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। लगभग 24 वर्षों तक शासन करने के उपरांत अपने गुरु पंचम अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी से बारह वर्ष का अकाल जानकर संसार शरीर भोग से वैराग्य हो गया। अपने पुत्र बिन्दुसागर को

राज्य देकर वे दिगम्बरी दीक्षा धारण कर मुनि बन गए। अपने गुरु के साथ दक्षिण दिशा की ओर प्रयाण किया वहां कटवप्र या कुमारी पर्वत पर अपने गुरु का संन्यासपूर्वक समाधिमरण कराया। 12 वर्ष के अकाल के पश्चात् देश-देशान्तर भ्रमण करके अंत में जिस स्थान पर भद्रबाहु स्वामी ने समाधिमरण पूर्वक नश्वर देह का त्याग किया था उस स्थान पर पहुँच गए। मान्यता है कि दक्षिण प्रांत के जिस कटवप्र या कुमारी पर्वत पर चन्द्रगुप्त मुनि ने तपस्या की थी व सल्लेखना पूर्वक शरीर का त्याग किया था इस घटना की स्मृति में वह पर्वत "चन्द्रगिरि" पर्वत कहलाया।[28]

सम्राट् की मृत्यु के उपरांत उनके पौत्र अशोक के शासनकाल में स्वयं अशोक ने भी अपने पश्चिमी प्रान्तीय यवन शासक तुषास्फ से इस सुदर्शन झील से नहरें निकलवाई थीं।[29]

सम्राट् अशोक के पश्चात् ई. सन् 150 में रुद्रदामन ने इस झील का बांध टूट जाने पर उसका पुनर्निर्माण कराया।[30]

सन् 456-57 ई. में स्कन्दगुप्त ने अपार धन खर्च करके इस झील का पुनः निर्माण कराया था। स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य के भू-भाग पर पर्णदत्त को नियुक्त किया तथा पर्णदत्त ने शासन संचालन के लिए अपने पुत्र चक्रपालित को नियुक्त किया। चक्रपालित की देख-रेख में ही इस झील का पुननिर्माण किया गया। यथा

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शिलालेख वर्ष 136-37 के अनुसार-गुप्तकाल के 136 वें वर्ष (ई. सन् 455-56) में भाद्रपदमास (अगस्त-सितम्बर) के छटे दिन रात्रि में भारी वर्षा के कारण सुदर्शन झील (जो कि गिरनार की तली में चारों ओर फैली घाटी में कण्ठनाली- जिसमें कि यह अभिलेख मिलता है- के पार बने हुए एक प्राचीन बांध निर्मित हुआ था) फूट पड़ा। बांध के पुनर्नवीनीकरण द्वारा विदारण का पुनः निर्माण चक्रपालित की आज्ञा से दो महीने के उपरांत वर्ष एक सौ सैंतीस में (ई. सन् 456-57) में सम्पन्न हुआ।[31]

इस प्रकार लगभग 800 वर्षों तक मौर्य सम्राट द्वारा निर्मापित "सुदर्शन" झील से पश्चिमी देशों में सिंचाई का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। वर्तमान सरकार को इसका पुनः जीर्णोद्धार कराना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के रचनात्मक कार्यों से प्राचीन भारतीय कृषि एवं सिंचाई व्यवस्था को अभूतपूर्व गौरव प्राप्त होता है।

संदर्भ :-

1. भद्रवाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त प्रस्तावना पृ. 20 डा. राजाराम जैन **2.** वही पृ. 20, **3.** वही पृ.20 **4.** वही पृ.22 **5.** वही पृ.22 **6.** वही पृ.22 **7.** वही पृ. 22 **8.** वही पृ. 22 **9.** वही पृ.22 **10.** भारतीय इतिहास कोष पृ. 143, **11.** वही पृ. 502, **12.** वही पृ. 89 **13.** वही पृ. 72 **14.** वही पृ. 265 **15.** वही पृ. 143-44, 484 व 387-88 **16.** वही पृ. 404 **17.** वही पृ. 143 तथा मौर्यकालीन भारत पृ. 15 **18.** भा.इ. को पृ.144 **19.** वही पृ. 144 व 380 **20.** वही पृ. 144 **21.** मौर्यकालीन भारत-कमलापति त्रिपाठी पृ. 15 **22.** वही पृ. 15 **23.** वही पृ. 85 **24.** वही पृ. 87 **25.** भा.इ. को पृ. 245 & Age of The nandas & Mauryas by A.K. Neelkant Shastri Page 155 **26.** Immortal India vol 11 page 119-120 **27.** सुंदर्शण चरिउ-मुनि नयनन्दि रु. 1043 प्राकृत जैन शोध सस्थान से प्रकाशित रामचन्द्र मुमुक्षु कृत पुण्यास्रव कथा कोष जीवराज जैन ग्रंथमाला से प्रकाशित चतुर्थ संस्करण सन् 2006 पृ. 84-85, हरिषेणाचार्य कृत बृहत्कथाकोष सिंधि जैन ग्रंथमाला बम्बई सन् 1943 पृ. 196-131, प्रभाचन्द्राचार्य कृतकथा कोष. मणिकचन्द दि. जैन ग्रंथमाला प्रथम संस्करण सन् 1974 पृ. 42-43 तथा भगवती आराधना, शिवकोटि आचार्य कृत विजयोदया टीका अपराजितसूरि, भा. टीका- पं कैलाशचन्दजी शास्त्री जीवराज जैन ग्रथमाला सोलापुर से प्रकाशित, तृतीय सस्करण सन् 2006, पृ. 474 गाथा 758 **28.** भद्रवाहु चा. कथानक प्रस्तावना एवं जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ. 184-85 **29.** मौर्यकालीन भारत पृ. 87 **30.** वही पृ. 87 **31.** भारतीय अभिलेख संग्रह भाग 3 सं. 14 by Dr. फ्लीट.

D-2/20 जनकपुरी नई दिल्ली-58

इष्टोपदेश-भाष्य एवं अध्यात्मयोगी मुनि श्री विशुद्धसागर जी

— प्राचार्य पं. निहालचन्द जैन.

इष्टोपदेश इक्यावन गाथाओं का यथा नाम तथा गुणवाला एक लघुकाय आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जो पं. आशाधर जी की संस्कृत टीका के साथ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला मुम्बई से प्रकाशित हुआ था, बाद में इसका तृतीय संस्करण 1965 में वीर सेवा मंदिर-दरियागंज दिल्ली से प्रकाशित हुआ, जिसके सम्पादक श्री जुगल किशोर 'मुख्तार' युगवीर और अनुवादक पं. परमानन्द शास्त्री थे, प्रति अवलोकनार्थ मिली। इसके रचयिता श्री पूज्यपाद स्वामी का उल्लेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में नहीं है, फिर भी कृति अपने महत्व को स्वतः ख्यापित करती है। श्री पूज्यपाद स्वामी 5वीं व 6वीं शताब्दी के लब्ध प्रतिष्ठित तत्त्व दृष्टा आचार्य रहे। आपके गुरु द्वारा प्रदत्त नाम 'देवनन्दी' था, जो प्रकर्ष बुद्धि के धनी और विपुल ज्ञानधारी होने से 'जिनेन्द्र बुद्धि' नाम से भी विश्रुत हुए। बाद में जब से उनके युगल चरण, देवताओं द्वारा पूजे गये, बुधजनों के द्वारा वे 'पूज्यपाद' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।

आपकी प्रशस्ति में अधोलिखित ये श्लोक सन्दर्भित हैं।

कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तम वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मल-ध्वंसि, तीर्थं यस्य वचोपमम्।।
अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणः।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भितः।।
पूज्यपाद सदा पूज्यपादः पूज्यै पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्ण सद्गुणः।।
अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्तसम्भवम्।
कलङ्क- मङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते।।

शक सम्वत् 1355 में उत्कीर्ण श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं. 40(64),

105(254) एवं 108 (258) में आपका मुक्तकण्ठ से यशोगान किया गया है। आपको अद्वितीय औषधि-ऋद्धि के धारक बताया गया है। कहते हैं आपने ऐसा रसायन खोजा था, जिसे पैरो के तलुवों में लेपन कर विदेह क्षेत्र जाकर, वहाँ स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से आपका शरीर पवित्र हो गया था। जिनके चरण धोए जल-स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना बन गया था। आप समस्त शास्त्र विषयों में पारंगत थे और कामदेव को जीतने के कारण योगियों ने आपको 'जिनेन्द्र बुद्धि' नाम से पुकारा। आप महान वैयाकरण (जैनेन्द्र व्याकरण के स्वयिता) थे। श्री जिनसेनाचार्य ने लिखा- "जिनका वाङ्मय शब्दशास्त्र रूपी व्याकरणतीर्थ, विद्वज्जनों के वचनमल को नष्ट करने वाला है, वे देवनन्दी कवियों के तीर्थकर हैं।" "विदुषां वाङ्मल- ध्वंसि" गुणसंज्ञा से आपको विभूषित किया गया था।

जहाँ "सर्वार्थसिद्धि" आपकी सिद्धान्त में परम निपुणता को, 'छन्दःशास्त्र' बुद्धि की सूक्ष्मता को व रचना चातुर्य को तथा "समाधि शतक" स्थित प्रज्ञता को प्रगट करता है।, वहाँ "इष्टोपदेश" आत्म-स्वरूप सम्बोधन रूप अध्यात्म की गवेषणात्मक प्रस्तुति है। पूज्य मुनि श्री विशुद्धसागर जी एक अध्यात्म चेता जैन संत हैं, विषयों से विरक्त परम तपस्वी हैं, जिन्होंने इसका भाष्य लिखा और द्रव्यानुयोग आगम ग्रन्थों के सन्दर्भों से युक्त यह 'इष्टोपदेश-भाष्य' जो आपके चिन्तन और अध्यात्म की अतल गहराई में उतरकर अनुभूति का शब्दावतार है। मुनि श्री का ही चिन्तन आपके प्रवचनों में मुखर होता है। समता भाव और आडम्बरहीन आपकी सालभर चलने वाली दिनचर्या है। जो भी बोलते हैं- अनेकान्त की तुला पर तौलकर बोलते हैं। निश्चय और व्यवहार का समरसी समन्वय आपकी पीयूष वाणी से भरता है।

यह मुनि श्री की वाणी का अद्भुत चमत्कार है कि प्रवचन के समय-अध्यात्म रसिक श्रोता भाव विभोर हो सुनता है और एकदम

सन्नाटा छाया रहता है। आगम में अल्पज्ञान हो तो विवाद पैदा करता है, यदि तत्त्व की पकड़ दोनों नयों से भली भांति की गयी है, और कौन नय कब प्रधान है कब गौण है, इस सापेक्षता को मुनि श्री अपने भेद विज्ञान विवेक से भली-भांति जानते हैं। कहीं कोई विवाद, शंका और संदेह नहीं उठता जब आपकी ज्ञानधारा अविरल प्रवाहित होती है। श्री विशुद्धसागर जी ऐसे जैन दि. संत हैं जिनकी स्याद्‌वादवाणी रूप गंगा, निश्चय और व्यवहार नय-कूलों को संस्पर्शित करती हुई प्रबुद्ध जनों के हृदय में उतर जाती है। अध्यात्म के सूक्ष्म भावों को सहजता से व्याख्यापित कर देना केवल पांडित्य से सम्भव नहीं है, वहाँ सम्यक्त्व की शुद्धात्मानुभूति और समत्व-भावों की फलश्रुति काम करती है।

इस भाष्यकार संत में मैंने एक निरालापन संत व्यक्तित्व की झलक देखी है। आज जब एक आचार्य संघ के साधुगण दूसरे आचार्य-संघ के साधु गणों से आत्मीय सौजन्य नहीं रख पा रहे हैं। इतना ही नहीं एक ही कुल के साधु गणों में आत्मीय वात्सल्य दिखाई नहीं देता, ऐसे में यदि दो संघों के साधुओं में 'मिलन' होता है तो वह एक महोत्सव से कम नहीं लगता। उस मिलन-महोत्सव के क्षणों में श्रावक भी प्रसन्नता का अनुभव करता है। अध्यात्मयोगी विशुद्धसागर जी जिनके दीक्षा गुरु आचार्य विरागसागर जी महाराज हैं परन्तु अपने प्रवचनों में उनकी अटूट श्रद्धा संतशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के लिए मुखर होती रहती है। वे प्रतिवर्ष आ० विद्यासागर जी का संयमोत्सव वर्ष मंच से मनाते हैं। यह संतसौहार्द मुनि श्री विशुद्धसागर की अध्यात्म-चेतना का एक प्रबल पक्ष है। कोई पक्ष-व्यामोह नहीं, जहाँ केवल वीतरागता को नमन है- चाहे वे आप विरागसागर हों या आ० विद्यासागर।

इधर विगत 20 वर्षों से अनेक राष्ट्रीय स्तर को विद्वत्संगोष्ठियॉ अनेक आचार्य/उपाध्याय और मुनियों के पावन सान्निध्य और उनके आशीर्वाद व प्रेरणा से समायोजित हो रही हैं जहॉ देशभर के मनीषी एक मंच पर बैठकर अपने जैनदर्शन/कर्म और श्रावकाचार पर गवेषणात्मक प्रस्तुतियाँ देकर शोध-पत्र पढ़ते हैं। परन्तु ऐसी कोई जैन

साधुओं और आचार्यों की संगतियाँ समायोजित नहीं हुई पिछले 50 वर्षों में। जैसा इतिहास में पढ़ा था कि नालन्दा और तक्षशिला विश्वविद्यालयों में श्रमण साधुओं की संगतियाँ हुआ करती थीं वे आज दुर्लभ हैं। आज हर संघ के साधुओं की अपनी-अपनी चर्या होती जा रही है और इक्कीसवीं सदी का प्रभाव उनमें घुसपैठ कर रहा है। चाहे वह मोबाइल का प्रयोग हो या विज्ञापन की खर्चीली विधियाँ, वातानुकूलित कक्षों में रहना हो या फ्लश का उपयोग। अब तो साधु की साधना का एक ही मापदण्ड रह गया है कि वह प्रवचन कला में कितना प्रवीण या निपुण है और श्रोताओं की भीड़ जुटाने में कितना सक्षम हैं? मुनि विशुद्ध सागर इसके अपवाद हैं। लोग इन्हें लघु आचार्य विद्यासागर जी तक कहने लगे हैं क्योंकि श्री विशुद्धसागर जी की मुनिचर्या आगमानुकूल निर्दोष चर्चा है। शिथिलाचार आपकी चर्चा में फटक नहीं पाता और आचार्यश्री विद्यासागर जी के लघु-संस्करण हैं और समत्व और वीतरागता के प्राञ्जल-नक्षत्र हैं। जैन समाज आज बीस, तेरा में विभक्त हो रही है, निश्चय और व्यवहार पक्ष के कारण विभाजित है। उपजाति के आधार पर अपनी पहिचान बनाने में 'गोलापूर्व' जैसे सम्मेलन में शक्ति का विभाजन हो रहा है। उन सभी संकीर्णताओं से अलग खड़े मुनि विशुद्ध सागर जैन समाज के एकीकरण के लिए अपने अध्यात्म को समर्पित भाव से उपयोग करके आत्मसाधना में निरत हैं।

इष्टोपदेश भाष्य की पाण्डुलिपि पढ़कर मुझे इस प्रज्ञा-पुरुष की प्रतिभा का आभास हुआ और सिर श्रद्धा से झुक गया। इष्टोपदेश को पढ़कर ऐसा लगता है कि पूज्यपाद स्वामी ने आ० कुन्दकुन्द देव के समयसार, प्रवचनसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों को आत्मसात् करके ही इसे सृजित किया है। आत्म रसिक स्वाध्यायार्थियों को आत्म चिन्तन के सरोवर में निमग्न होने के लिए जैसे 'गागर में सागर' भरने की उक्ति चरितार्थ कर दी हो। यह सत्य है कि जब कोई महान आत्मसाधक साधना की चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है तो उसकी भावाभिव्यक्ति मानवीय सम्वेदना के बहुत निकट पहुँच जाती है। अध्यात्म का कठिन रास्ता,

उसके लिए सरल बन जाता है। उदाहरणार्थ एक गाथा यहाँ उद्धृत करता हूँ–

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि।।37

संस्कृत की इस गाथा नं. 37 का भावपूर्ण सौष्ठव देखें। संवित्ति अर्थात् स्व. पर के भेद विज्ञान से आत्मा जैसे जैसे विशुद्ध और प्राञ्जल बनती हुई आत्म-विकास करती है, वैसे वैसे ही सहज प्राप्त रमणीय पञ्चेन्द्रिय के विषय उसे अरुचिकर और निःसार लगने लगते हैं। उन विषयों के प्रति उदासीन या अनासक्त भाव जाग्रत होने लगता है। जैसे सूर्य प्रकाश के सामने दीपक का प्रकाश मंद दिखता हुआ तिरोहित सा हो जाता है। उसी प्रकार निजानन्द चैतन्य स्वरूप का भान होने पर उस विराट आत्म-सुख के समक्ष, विषय भोग के सांसारिक सुख क्रान्तिहीन और बोने लगते हैं। आत्म साधक के लिए वे सुख आकर्षित नहीं कर पाते।

जिनेन्द्र भगवान् ने निराकुलता को सच्चा सुख कहा है। संसार-सुख देह भोग का सुखाभास है। जैसे इन्द्र धनुष की सुन्दरता क्षणिक और काल्पनिक है वस्तुतः वह दृष्टिभ्रम का एक उदाहरण है वैसे ही इन्द्रिय सुख-आकुलता को पैदा करने वाला वैसा ही सुख है जैसे शहद लिपटी तलवार की धार को जीभ से चाँटने का सुख होता है। उस क्षणिक सुख में वेदना का पहाड़ छिपा होता है। विषय काम-भोग के सुख वस्तुतः सुख की कल्पना के पर्दे के पीछे खड़ा दुःख का स्तूप है।

जिसे अध्यात्म रस की मिठास मिलने लगती है वह पदार्थों के सम्मोहन से ऊपर उठ जाता है। वैराग्य-भाव से निज निधि की तलाश में वह आत्म अन्वेषण करता हुआ इष्ट उपदेश की ओर उन्मुख होता है जो उसका कल्याणकारी होता है। दूसरे शब्दों में जैसे-जैसे इन्द्रिय भोग से रुचि घटती जाती है। आत्म प्रतीति उसी अनुपात में बढ़ती जाती है। 'आत्म-संवित्ति' का वैभव कितना विराट और अनन्त है, एक गाथा में कह देना यह पूज्यपाद स्वामी की विलक्षण शुद्धात्मानुभूति ही थी।

हुआ, जीवन के इष्ट कल्याण के लिए पुरुषार्थ नहीं करता। लोभ कषाय का तीव्र संस्कार कि धन संरक्षण में जीवन ही खो देता है।

10. आत्म ध्यान से अभेदात्मक उपयोग की स्थिर दशा प्राप्त करना और संसार के संकल्प विकल्पों से रहित होकर एक निरंजन आत्मा का अनुभव करना उस ग्रन्थ का इष्ट लक्ष्य है। आत्म संसिद्धि के लिए इस ग्रन्थ की आध्यात्मिक संरचना का ताना-बाना बुना गया है। भाष्यकार मुनि श्री विशुद्धसागर जी ने प्रस्तुत भाष्य में आत्म चिन्तन के फलक पर एक वैचारिक क्षितिज प्रस्तुत किया। मन्थन करके अध्यात्म का नवनीत पाने का एक सफल पुरुषार्थ किया और गाथाओं के प्रतिपाद्य विषय को अनेक उदाहरणों और सन्दर्भों द्वारा विस्तारित किया है। इस भाष्य को पढ़कर तत्त्व जिज्ञासु निश्चित ही संयम तप और त्याग वृत्ति की ओर अभिमुख होता हुआ उस मार्ग पर बढ़ने का आत्म बल जुटाता है, जो मोक्ष पथ की ओर ले जाता है। आत्म चिन्तन से कर्म निर्जरा का एक सबल निमित्त साधक को भाष्य पढ़कर मिलता है। पूज्यपाद स्वामी ने इसके अलावा समाधितंत्र और तत्त्वार्थसार जैसे स्वतंत्र आध्यात्मिक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया जो शब्दों में न्यून होकर रहस्य और भावों से भरे हैं। श्री विशुद्धसागर जी ने तत्त्वार्थसार की प्रत्येक गाथा पर स्वतंत्र प्रवचन करते हुए जो अध्यात्म रस छलकाया है वह तो पाठक पढ़कर ही अनुभव कर सकता है। भाष्य में जो इष्टोपदेश गाथाओं की पद्य रचना की गयी है वह प्रसादादि गुणों से युक्त है। अध्यात्म वाणी का संदोहन करके भाष्य की रचना अपने आप में ऐसा ग्रन्थ बन गया जो आत्म-वैभव से परिचित कराता हुआ प्रज्ञा-प्रकाश से भरता है। भाष्य का पठन प्रफुल्लित करता है और भव्य जीव के क्षयोपशम को बढ़ाता है। उसका मिथ्यात्व व अज्ञान स्वयमेव छंटता जाता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है। यह लघु समयसार रूप है जो आत्मा की महनीयता को उजागर करता है।

भौतिकवादी भोग संस्कृति के झंझावात में आज सम्पूर्ण मानवीय

सभ्यता डूब रही है। उसको चेतना से कोई लेना देना नहीं। देह की पौद्‌गलिक माया की मोह गली में भ्रमित हो, एवं दिशाहीन होकर भटकाव में जी रहा है। शान्ति पाने के सारे सूत्र उसके हाथ से खिसक गये हैं। सम्वेदनाएँ शून्य हो गयी है तथा धनार्जन का मायावी भूत उसके सिर पर चढ़कर बोल रहा है। आपाधापी के इस संक्रमण काल में यह भाष्य, मानवता के जागरण का शंखनाद कर रहा है। यह भाष्य जीवन की दशा सुधारने में और दिव्य दिशा पाने में एक दिक्‌सूचक की भांति जीवन का श्रेष्ठ आयाम बनेगा ऐसा मेरा विश्वास है। अज्ञ को विज्ञ बनाना इस भाष्य का इष्ट-फल है। मुनि श्री विशुद्धसागर जी को अध्यात्मयोगी जो सार्थक विशेषण नाम के पूर्व अंकित किया गया, वह वस्तुतः आपके व्यक्तित्व की वह दीप शिखा है जिससे एक रोशनी मिलती है सही जीवन जीने की और अध्यात्म के रसों को अपने जीवन में संजोने की।

इष्टोपदेश भाष्य- द्रव्यानुयोग की एक और अमर कृति बने, इस आस्था से समीक्षाकार मुनि श्री के चरणों में विनत भाव से नमोऽस्तु करता है।

जवाहर वार्ड - बीना (म.प्र.)

धर्मानुप्रेक्षा

देवता भविता श्वापि, देवः श्वा धर्मपापतः।
तं धर्मं दुर्लभं कुर्या, धर्मो हि भुवि कामसूः।।

क्षत्रचूडामणि, 11/78

हे आत्मन्! पाप के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है और धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है। इसलिए ऐसे दुर्लभ धर्म को धारण करना प्राणिमात्र का कर्तव्य है। धर्म करने से निश्चय ही संसार में सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

वैदिक और श्रमण संस्कृति में आदान-प्रदान : एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया

– डॉ. कमलेश कुमार जैन

एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि आप कमरे में दस खिलौने रख दीजिये। उसके बाद दो बच्चों को उन खिलौनों से खेलने के लिये दौड़ दें। थोड़ी देर बाद आप देखेंगे कि दोनों बच्चें एक ही खिलौने से खेलना चाहते हैं और दोनों आपस में लड़ना शुरू कर देंगे। किसी बुजुर्ग व्यक्ति के समझाने पर वे दोनों एक ही बात कहेंगे कि इस खिलौने से पहले मैं खेल रहा था। बुजुर्ग व्यक्ति को यह पता लगाना मुश्किल हो जायेगा कि पहले खिलौने को किसने उठाया था। क्योंकि दोनों बच्चों के तर्क एक दूसरे से बढ़कर होंगे और अन्त में बलिष्ठ और तर्कशील बालक उस खिलौने का हकदार बन जायेगा। मैं समझता हूँ कि कुछ सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है।

वैदिक परम्परा में एक पद्य प्रचलित है–

मङ्गलं भगवान् विष्णुः मङ्गलं गरुडध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो गोविन्दायतनो हरिः।।

इसी प्रकार श्रमण परम्परा की अङ्गभूत दिगम्बर जैन परम्परा में यह पद्य निम्नाङ्कित रूप में उपलब्ध होता है–

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

श्वेताम्बर जैन परम्परा में भी यह पद्य किञ्चित् परिवर्तन के साथ इस प्रकार प्रचलित है–

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं स्थूलभद्राद्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वैदिक परम्परा वालों में उक्त पद्य में अपने

इष्टदेवताओं को मङ्गल स्वरूप माना है। दिगम्बर जैन परम्परा वालों ने अपने इष्ट-देवताओं किंवा आचार्यों का स्मरण करते हुये उन्हें मङ्गल स्वरूप माना है। इसी प्रकार श्वेताम्बर जैनों ने प्रथम दो अर्थात् भगवान महावीर स्वामी और गौतम स्वामी को तो मङ्गल स्वरूप स्वीकार किया है किन्तु बाद में परम्परा-भेद हो जाने के कारण उन्होंने कुन्दकुन्द के स्थान पर स्थूलभद्र को मङ्गल स्वरूप स्वीकार किया है। अर्थात् परम्परा भेद के कारण हमारे मङ्गल स्वरूप आचार्य भी पृथक्-पृथक् हो गये। जबकि दोनों आचार्य अपनी-अपनी परम्परा के पोषक हैं और तप-त्याग के कारण मङ्गल स्वरूप हैं।

अब यहाँ यह ज्ञात करना मुश्किल है कि वैदिक और जैन–इन दोनों परम्पराओं में कौन प्राचीन है और कौन अर्वाचीन, निश्चित है कि दोनों अपने को प्राचीन कहना पसन्द करेंगे तथा अर्वाचीन कहलाने से परहेज करेंगे। जबकि मेरी दृष्टि में तथ्य कुछ और भी हो सकता है। गङ्गा का जल सतत प्रवाहमान है उसका समान रूप से उपयोग सभी परम्पराएँ करती है। कोई यह नहीं कह सकता है कि मैंने गङ्गाजल से सिंचित पेड़-पौधों, वनस्पतियों, साग-सब्जियों अथवा अन्न आदि का उपयोग सबसे पहले किया है, अतः गङ्गा पर मेरा एकाधिकार है और यदि ऐसा कोई कहता भी है तो उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता है।

शब्दराशि जब से अस्तित्व में आई है तब से सभी परम्पराएँ उसे ग्रहण कर अपनी परम्परा के अनुसार आकार दे रही हैं। अब अपनी-अपनी परम्पंरा को प्राचीनतम सिद्ध करने का व्यामोह उन्हें परस्पर झगड़ा करने को आमन्त्रित कर रहा है।

आदान-प्रदान का एक कारण यह भी है कि बड़े-बड़े आचार्य अपने सम्प्रदाय में उचित सम्मान न पाये जाने के कारण तथा दूसरी परम्परा से प्रभावित होने के कारण अथवा अन्य किसी कारणवशात् अपना सम्प्रदाय तो बदल लेते थे, किन्तु प्रतीक रूप में वे अपनी परम्पराएँ

जाने-अनजाने साथ ले आते थे। फलस्वरूप पूर्व परम्परा के संस्कार उत्तरवर्ती परम्परा में ऐसे घुलमिल जाते हैं कि उसके मूलस्रोत का ज्ञान प्राप्त करना ही अपने आप में एक समस्या है।

आचार्य हरिभद्र प्रारम्भ में वैदिक संस्कृति से संबद्ध थे, किन्तु बाद में अपनी अटपटी प्रतिज्ञा के कारण श्वेताम्बर जैन परम्परा में दीक्षित हो गये। अब सम्प्रदाय परिवर्तन के पश्चात् उनके द्वारा लिखित साहित्य में वैदिक परम्परा के बीज खोजे जा सकते हैं। इसी प्रकार महाकवि अर्हद्दास द्वारा लिखित भव्यजनकण्ठाभरण में भी वैदिक तत्त्वों का अनायास समावेश हो गया। आदान-प्रदान के इन बीजों का पता वही लगा सकता है जो दोनों परम्पराओं का गहन अध्येता हो। अन्यथा जन-सामान्य तो गुरुभक्ति और श्रद्धा के कारण उसे अपने धर्मविशेष का अङ्ग मानकर चलता है।

अच्छी बातों को ग्रहण करने में कभी कोई संकोच न तो किया गया है और न ही किया जाना चाहिये। वैदिक संस्कृति में अहिंसा का पर्याप्त महत्त्व प्रतिपादित किया गया है, किन्तु उसका जैसा सूक्ष्म विवेचन एवं परिपाक जैन संस्कृति में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। परवर्ती वैदिक विधि-विधानों में उसका पर्याप्त प्रभाव दिखलाई देता है। जहाँ अश्वमेध और गोमेध आदि यज्ञों का वैदिक परम्परा में बहुप्रचलन था, अब वह प्रायः चर्चा में रह गया है। दशाश्वमेध घाट एक ही है। एकादशाश्वमेध घाट तो अभी तक नहीं बन सका। यह अहिंसा के प्रति हमारी जागरूकता ही कही जायेगी। पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने तो अश्व का अर्थ इन्द्रियों से जोड़कर एक नई क्रान्ति का बिगुल फूँककर अहिंसा की प्रतिष्ठा को मजबूती प्रदान की है और कुछ हद तक वे जैनों की अहिंसा के करीब आ रहे हैं। गो का अर्थ वाणी करना और वाणी को विश्राम देना अर्थात् मौन धारण करना जैसे गोमेध यज्ञ के अर्थ निश्चय ही स्वागतेय हैं।

इसी प्रकार

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत् पञ्चनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

अथवा

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः।।

आदि पद्यों पर विचार करें तो ये सभी सन्दर्भ किसी पद स्रोत से गृहीत प्रतीत होते हैं क्योंकि शब्दराशि अनन्त है और उस अनन्त शब्दराशि में से बहुत कुछ विविध सम्प्रदायों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, किया गया है और किया जाता रहेगा।

हॉ! कुछ बातों पर विचार अवश्य किया जाना चाहिये और वह यह कि वैदिक परम्परा मूलतः प्रवृत्तिवादी परम्परा है, क्रियाकाण्ड में विश्वास रखने वाली है, परन्तु इसे ही सर्वथा स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस युक्ति के आधार पर उक्त कथन किया गया है। कुछ अंशों में वैदिक परम्परा में भी आरण्यक संस्कृति के दर्शन हमें प्राचीन साहित्य में अनेक स्थलों पर मिल जायेंगे। वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम–इन दो आश्रमों का जीवन निवृत्तिपरक ही है और इनका उद्देश्य ही यह है कि क्रमशः मोह-ममता से निवृत्त होकर आत्म-साधना करना।

वस्तुतः यह एक प्रवाह है, जो परम्पराओं के माध्यम से हमें विरासत में प्राप्त हुआ है, हो रहा है और भविष्य में भी होगा, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

दूसरी ओर श्रमण परम्परा है। यह सामान्य रूप से निवृत्तिपरक मानी जाती है और है भी, किन्तु इस सबके बावजूद आज उसे सर्वथा निवृत्तिपरक परम्परा कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस परम्परा में भी अब शादी-विवाह अथवा अन्य अवसरों पर हवन आदि क्रियाकाण्ड प्रचलन में आ गये है, जो मूलतः वैदिक परम्परा के अङ्ग हैं।

आदान-प्रदान हमारी अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के द्योतक हैं और ये अनुकरण विविध क्षेत्रों में प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। धार्मिक, समाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में आदान-प्रदान पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

आज जो शोध-खोज हो रही है उसमें इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि इसका मूलस्रोत क्या है? अर्थात् विविध कलाएँ तत् क्षेत्रों में अपने मूलरूप किंवा प्रारम्भिक रूप प्रारम्भ हुई और जैसे ही उनका कार्यक्षेत्र बढ़ा। प्रसिद्धि बढ़ी और लोगों को यदि वह कला पसंद आ गई तो उसको आत्मसात् कर लिया और इस ढंग से किया कि गुरु गुड़ रह गये और चेला चीनी हो गये। इसमें परवर्ती की कलाबाजी और प्रोपेगण्डा भी हो सकता है जो मूलस्रोत को भुलाकर स्वयं मूलस्रोत के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

साहित्य के क्षेत्र में आदान-प्रदान की कला का आचार्य राजशेखर ने बहुत अच्छा उल्लेख किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—पूर्व कवियों के तथ्यों को किंवा काव्यों में किञ्चित् परिवर्तन करके अथवा भावों में किञ्चित् परिवर्तन करके उसे अपना बना लिया जाता है। इस विषय में उन्होंने अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

मैं समझता हूँ कि वैदिक परम्परा अथवा श्रमण परम्परा में परस्पर में विविध क्षेत्रों में बहुत कुछ आदान-प्रदान हुआ है, जो हमारे सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक सम्बन्धों को गहरी मजबूती प्रदान करते हैं और वे इस बात के साक्षी हैं कि हमारा परस्पर आदान-प्रदान का व्यवहार प्राचीन ही नहीं, अपितु प्राचीनतम है तथा परस्पर में निश्चय में कोई बैर-विरोध नहीं है। विविधता हमारी संस्कृति है। अच्छी बातों को ग्रहण करना और बुराइयों का त्याग करना यह प्रत्येक भारतीय के लिये गौरव की बात है। फिर चाहे वह वैदिक परम्परा से सम्बद्ध हो अथवा श्रमण परम्परा से अथवा अन्य किसी भी परम्परा से सम्बद्ध हो।

अन्त में मैं यशस्तिलकचम्पूकार आचार्य सोयदेवसूरि के उस मङ्गल पद्य को उद्धृत कर अपनी बात पूरी करना चाहूँगा, जिसमें उन्होंने जैनों के लिये यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि अपने सम्यक्त्व और व्रतों में कोई दूषण न लगता हो तो अन्य परम्परा को स्वीकार करने से परहेज नहीं करना चाहिये। वे लिखते हैं कि–

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रत दूषणम्।।

प्रोफसर जैनदर्शन, का. हि. वि. वि.
निर्वाण भवन, बी 2/249, लेन नं. 14
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-221005
दूरभाष : 0542-2315323

देहे निर्ममता गुरौ विनयता नित्यं श्रुताभ्यासता।
चारित्रोज्ज्वलता महोपशमता संसारनिर्वेदता।।
अन्तर्बाह्यपरिग्रहव्यजनता धर्मज्ञता साधुता।
साधो! साधुजनस्य लक्षणमिदं संसार विच्छेदनम्।।

– सम्यक्त्वकौमुदी, 280

शरीर में ममता का अभाव, गुरुजनों के प्रति विनयसम्पन्नता, निरन्तर शास्त्राभ्यास, चारित्र की निर्मलता, अत्यन्त शान्तवृत्ति, संसार से उदासीनता आन्तरिक एवं बाह्य परिग्रह का त्याग, धर्मज्ञता और साधुता- ये साधुजनों के लक्षण संसार विच्छेद के कारण हैं।

श्रावकाचारों में वर्णित सल्लेखना, विधि एवं साधक

– डॉ. जयकुमार जैन

सल्लेखना का स्वरूप

जैन परम्परा में मरण की सार्थकता और वीतरागता की कसौटी के रूप में सल्लेखना की स्वीकृति है। सल्लेखना शब्द सत् + लेखना का निष्पन्न रूप है। सत् का अर्थ है सम्यक् रूप से तथा लेखना का अर्थ है कृश या दुर्बल करना। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सल्लेखना का लक्षण करते हुए लिखा है- "सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य वाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्-लेखना सल्लेखना।"[1] अर्थात् अच्छी तरह से काय और कषायों को कृश करने का नाम सल्लेखना है। सल्लेखना में बाह्य शरीर एवं आन्तरिक कषायों को उनके कारणों का त्याग करके क्रमशः कृश किया जाता है। चारित्रसार आदि अन्य श्रावकाचारों में सर्वार्थसिद्धि के लक्षण की ही भावात्मक अनुकृति दृष्टिगोचर होती है। प्रायः श्रावकाचार विषयक सभी ग्रन्थों में जीवन के अन्त में सल्लेखना धारण करने का विधान श्रावक के लिए भी किया गया है। कतिपय ग्रन्थों में सल्लेखना के स्थान पर संन्यासमरण या समाधिमरण शब्द का प्रयोग मिलता है। भगवती आराधना में भक्तप्रत्याख्यान के माध्यम से काय एवं कषाय का कृशीकरण स्वीकार किया गया है, अतः उसमें भक्तप्रत्याख्यान ही सल्लेखना है।

व्रतोद्योतन श्रावकाचार में मित्र, स्त्री, वैभव, पुत्र, सौख्य और गृह में मोह को छोड़कर अपने चित्त में पञ्च परमपद स्मरण करने को सल्लेखना कहा गया है।[2] वसुनन्दिश्रावकाचार में सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत स्वीकार करते हुए कहा गया है कि अपने घर में या जिनालय में रहकर जब श्रावक गुरु के समीप मन-वचन-काय से भली-भाँति अपनी

आलोचना करके पेय के अतिरिक्त विविध आहार को त्याग देता है, उसे सल्लेखना कहते हैं।[3]

सल्लेखना के भेद

भगवती आराधना में कहा गया है कि सल्लेखना दो प्रकार की है- आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर सल्लेखना तो कषायों में होती है तथा बाह्य सल्लेखना शरीर में।[4] फलतः कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर तथा काय को कृश करना बाह्य सल्लेखना हैं। श्री जयसेनाचार्य ने पञ्चास्किाय की तात्पर्यवृत्ति में कषाय सल्लेखना को भावसल्लेखना तथा काय सल्लेखना को द्रव्यसल्लेखना कहा है और इन दोनों के आचरण को सल्लेखना काल कहा है। उन्होंने लिखा है-

"आत्मसंस्कारानन्तरं तदर्थमेव क्रोधादिकषायरहितानन्तज्ञानादि गुणलक्षणपरमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पानां सम्यग्लेखनं तनूकरणं भावसल्लेखना, तदर्थ कायक्लेशानुष्ठानं द्रव्यसल्लेखना, तदुभयाचरणं स सल्लेखनाकालः।"[5] यहाँ यह कथ्य है कि कषायसल्लेखना या भावसल्लेखना और कायसल्लेखना या द्रव्यसल्लेखना में साध्य-साधक भाव संबन्ध है। अर्थात् बाह्य काय या द्रव्य सल्लेखना आभ्यन्तर कषाय या भाव सल्लेखना का साधन है।

सल्लेखना कब?

सल्लेखना के अर्ह व्यक्ति का कथन करते हुए भगवती आराधना में कहा गया है कि जिसके दुःसाध्य व्याधि हो, श्रामण्य की योग्यता को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था हो अथवा देव-मनुष्य या तिर्यंचकृत उपसर्ग हो तो वह व्यक्ति भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य है। अनुकूल वान्धव या प्रतिकूल शत्रु जब चारित्र का विनाश करने वाले बन जायें, भयानक दुर्भिक्ष पड़ जाये या व्यक्ति जंगल में भटक गया हो। जिसकी चक्षु या श्रोत्रेन्द्रिय दुर्बल हो गई हो, जो जंघा-बल से हीन हो अथवा विहार करने में समर्थ न हो, वह व्यक्ति भक्तप्रत्याख्यान के योग्य है।[6]

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार भी यदि उपसर्ग, अकाल, बुढ़ापा या रोग उपस्थित हो जाये और उसका प्रतिकार करना संभव न हो तो धर्म की रक्षा के लिए शरीर के त्याग रूप सल्लेखना को धारण करना चाहिए। उनके अनुसार सल्लेखना का आश्रय लेना ही जीवन भर की तपस्या का फल है।[7] लाटी संहिता में भी व्रती श्रावक को मरण समय में अवश्य धारण करने योग्य मानते हुए जीर्ण आयु, घोर उपसर्ग एवं असाध्य रोग को सल्लेखना का हेतु कहा गया है।[8]

पुरुषार्थानुशासन में प्रतीकार रहित रोग के उपस्थित हो जाने पर दारुण उपसर्ग के आ जाने पर अथवा दुष्ट चेष्टा वाले मनुष्यों के द्वारा संयम के विनाशक कार्य प्रारंभ करने पर, जल-अग्नि आदि का योग मिलने पर अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई मृत्यु का कारण उपस्थित होने पर या ज्योतिष सामुद्रिक आदि निमित्तों से अपनी आयु का अन्त समीप जानने पर कर्तव्य के जानकार व्यक्ति को सल्लेखना धारण करने का अर्ह कहा गया है।[9] सल्लेखना की अर्हता के विषय में यशस्तिलक-चम्पू गत उपासकाध्ययन, चारित्रसार, उमास्वामिश्रावकाचार, हरिवंश-पुराणगत श्रावकाचार आदि ग्रन्थों का भी यही मत हैं।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् शरीर धर्मसाधना का प्रथम साधन है। किसी भी धार्मिक क्रिया की सम्पन्नता स्वस्थ शरीर के विना संभव नहीं है। अतः जब तक शरीर धर्मसाधना के अनुकूल रहे तव तक उसके माध्यम से मोक्षमार्ग को प्रशस्त करना चाहिए। किन्तु यदि धर्मसाधना के प्रतिकूल हो जाये तो सल्लेखना धारण कर धर्म की रक्षा करना चाहिए।

सल्लेखना की विधि

श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में सल्लेखना धारण करने की विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। आचार्य समन्तभद्र का कथन है कि

सल्लेखना धारण करते हुए कुटुम्ब, मित्र आदि से स्नेह दूर कर, शत्रुओं से बैरभाव हटाकर, बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्यागकर, शुद्ध मन वाला होकर, स्वजन एवं परिजनों को क्षमा करके, प्रिय वचनों के द्वारा उनसे भी क्षमा मांगे तथा सब पापों की आलोचना करके सल्लेखना धारण करे। क्रमशः अन्नाहार को घटाकर दूध, छांछ, उष्ण जल आदि को ग्रहण करता हुआ उपवास करे। अन्त में पञ्चनमस्कार को जपते हुए सावधनी पूर्वक शरीर को त्यागे।[10] श्री सोमदेव सूरि का कहना है कि सल्लेखनाधारी को उपवासों द्वारा शरीर को तथा ज्ञानभावना द्वारा कषायों को कृष करना चाहिए।[11] वसुनन्दिश्रावकाचार, श्रावकाचारसारोद्धार, चारित्रसार एवं पुरुषार्थानुशासन आदि श्रावकाचारविषयक ग्रन्थों में सल्लेखना की विधि में रत्नकरण्डश्रावकाचार का ही अनुकरण किया गया है।

भगवती आराधना में भक्तप्रत्याख्यान (सल्लेखना) के इच्छुक यति को निर्यापकाचार्य की खोज का निर्देश किया गया है। वहाँ कहा गया है कि समाधि की कामना करने वाला यति पाँच सौ, छह सौ, सात सौ योजन अथवा उससे भी अधिक जाकर शास्त्र सम्मत निर्यापक की खोज करता है। वह यति एक अथवा दो अथवा तीन आदि बारह वर्ष पर्यन्त खेदखिन्न न होता हुआ जिनागम सम्मत निर्यापक की खोज करता है।[12]

सामान्यतः सर्वभयों के उपस्थित न होने पर भी जो मुनि मरण की इच्छा करता है, उसे मुनिपने से विरक्त कहा गया है।[13] तथापि अपराजित सूरि का कथन है कि यदि भविष्य में निर्यापक का मिलना असंभावित लग रहा हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण कर सकता है। वे लिखते हैं- "इदानीमहं यदि न त्यागं कुर्यां निर्यापकाः पुनः न लप्स्यन्ते सूरयस्तदभावे नाहं पण्डितमरणमाराधयितुं शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानार्ह एव।"[14] अर्थात् जिस मुनि का चारित्र पालन सुखपूर्वक निरतिचार हो रहा हो तथा निर्यापक भी सुलभ न हो और जिसे दुर्भिक्ष आदि का भय भी न हो, ऐसा मुनि यद्यपि

भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य है, तो भी 'इस समय यदि में भक्तप्रत्याख्यान न करूँ और आगे कदाचित् निर्यापकाचार्य न मिले तो मैं पण्डितमरण की आराधना नहीं कर सकूँगा' ऐसा जिस मुनि को भय हो तो वह मुनि भक्त प्रत्याख्यान के योग्य है।

सल्लेखना की अवधि

भगवती आराधना में भक्तप्रत्याख्यान की उत्कृष्ट अवधि का कथन करते हुए कहा गया है-

'उक्कस्सएण भत्तपइण्णकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो।
कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि।।'15

अर्थात यदि आयु का काल अधिक शेष हो तो जिनेन्द्र भगवान ने उत्कृष्ट रूप से भक्तप्रत्याख्यान का काल बारह वर्ष का कहा है।

बारह वर्ष प्रमाण कायसल्लेखना के क्रम का विवेचन करते हुए कहा गया है कि वह नाना प्रकार के कायक्लेशों के द्वारा चार वर्ष बिताता है। दूध आदि रसों को त्यागकर फिर भी चार वर्ष तक शरीर को सुखाता है। आचाम्ल और निर्विकृति द्वारा दो वर्ष बिताता है। फिर आचाम्ल के द्वारा एक वर्ष बिताता है। शेष एक वर्ष के छः माह मध्यम तप के द्वारा तथा छः माह उत्कृष्ट तप के द्वारा बिताता है। आहार, क्षेत्र, काल और अपनी शारीरिक प्रकृति को विचार कर इस प्रकार तप करना चाहिए, जिस प्रकार वात, पित्त एवं कफ क्षोभ को प्राप्त न हों।

धवला में भक्तप्रत्याख्यान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट काल बारह वर्ष तथा मध्यम काल इन दोनों का अन्तरालवर्ती कहा गया है।[18] चारित्रसार में भी सल्लेखना के काल का इसी प्रकार कथन है।[19]

सल्लेखना का साधक

मुनि और श्रावक दोनों ही सल्लेखना की साधना के अधिकारी हैं।

भक्तप्रत्याख्यान आदि त्रिविध पण्डितमरण मुनियों के ही होते हैं- यह बात भगवती आराधना की निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है-

'पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स।।'[20]

अर्थात् पादोपगमन मरण, भक्तप्रतिज्ञा मरण और इंगिनीमरण ये तीन पण्डितमरण हैं। ये तीनों शास्त्रोक्त चारित्र पालन करने वाले साधु के होते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के धारक श्रावक को मारणान्तिकी सल्लेखना का आराधक कहा गया है।[21] जब कोई अव्रती श्रावक व्रती होकर जीवन को बिताना चाहता है तो उसे जिस प्रकार बारह व्रतों का पालन करना आवश्यक होता है उसी प्रकार जब व्रती श्रावक मरण के समय धर्मध्यान में लीन रहना चाहता है तो उसे सल्लेखना की आराधना आवश्यक हो जाती है। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्र में सल्लेखना का कथन श्रावक धर्म के प्रसंग में हुआ है, किन्तु यह मुनि और श्रावक दोनों के लिए निःश्रेयस् का साधन है। राजवार्तिक में तो स्पष्ट रूप से कह दिया गया है-

'अयं सल्लेखना विधिः न श्रावकस्यैव दिग्विरत्यादिशीलवतः। किं तर्हि संयतस्यापीति अविशेष ज्ञापनार्थत्वाद् वा पृथगुपदेशः कृतः।'[22] अर्थात् यह सल्लेखना विधि शीलव्रत धारी श्रावक की ही नहीं है, किन्तु महाव्रती साधु के भी होती है। इस नियम की सूचना पृथक् सूत्र बनाने से मिल जाती है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा गया है कि 'मैं मरणकाल में अवश्य समाधिमरण करूँगा' श्रावक को ऐसी भावना नित्य भाना चाहिए।[23]

पं. गोविन्दकृत पुरुषार्थानुशासन में तो अव्रती श्रावक को भी सल्लेखना का पात्र माना गया है। वे लिखते हैं कि यदि अव्रती पुरुष भी समाधिकरण करता है तो उसे सुगति की प्राप्ति होती है तथा यदि व्रती श्रावक भी असमाधि में मरण करता है तो उसे दुर्गति की प्राप्ति

होती है।[24] न केवल मनुष्य ही अपितु पशु भी समाधिमरण के द्वारा आत्मकल्याण कर सकता है। उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अत्यन्त क्रूर स्वभाव वाला सिंह भी मुनि के वचनों से उपशान्त चित्त होकर और संन्यास विधि से मरकर महान् ऋद्धिवान देव हुआ। तत्पश्चात् मनुष्य एवं देव होता हुआ अन्त में राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी के वर्धमान नामक पुत्र हुआ।[25]

स्पष्ट है कि सल्लेखना सबके लिए कल्याणकारी है तथा प्रीतिपूर्वक सल्लेखना की आराधना करने वाले मुनि, व्रती श्रावक, अव्रती श्रावक तथा तिर्यंच भी सल्लेखना की साधना करते हैं। किन्तु सिद्धान्तः तो तत्वार्थराजवार्तिक का यह कथन सर्वथा ध्येय है।- "सप्तशीलव्रतः कदाचित् कस्यचित् गृहिणः सल्लेखनाभिमुख्यं न सर्वस्येति।"[26] अर्थात् सात शीलव्रतों का धारण करने वाला कभी कोई एकाध गृहस्थ के ही सल्लेखना की अभिमुखता होती है, सबके नहीं। अतः मुख्यता साधुओं के ही समझना चाहिए।

सल्लेखना के योग्य स्थान एवं समय

पण्डितप्रवर आशाधर के अनुसार जन्मकल्याणक स्थल, जिनमन्दिर, तीर्थस्थान और निर्यापकाचार्य के सान्निध्य वाला स्थल सल्लेखना के उपयुक्त स्थान हैं।[27]

भगवती आराधना में सल्लेखना के उपयुक्त समय का कथन करते हुए कहा गया है-

"एवं वासारत्ते फासेदूण विविधं तवोकम्मं।
संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारम्मि।।"[28]

अर्थात् वर्षाकाल में नाना प्रकार के तप करके सुख विहार वाले हेमन्त ऋतु में सल्लेखना का आश्रय लेता है। हेमन्त ऋतु में अनशन आदि करने पर महान् परिश्रम नहीं होता, सुख पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान हो जाता है। इसी कारण इस हेमन्त ऋतु को सुखविहार कहा गया है।

सल्लेखना का महत्त्व एवं फल

भगवती आराधना में सल्लेखना (भक्तप्रत्याख्यान) के महत्त्व एवं फल का कथन करते हुए लिखा है कि वे व्यक्ति स्वर्गों में उत्कृष्ट भोगों को भोगकर च्युत होने पर मनुष्य भव में जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। फिर उसे त्यागकर जिनोपदिष्ट धर्म का पालन करते हैं वे शास्त्रों का अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा; संवेग और शक्ति सम्पन्न होते हैं। परीषहों को जीतते हैं, उपसर्गों को निरस्त करते हैं, उनसे अभिभूत नहीं होते हैं। इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करके ध्यान में मग्न होकर सक्लेशयुक्त अशुभ लेश्यओं का विनाश करते हैं। अन्त में शुक्ल लेश्या से सम्पन्न होकर शुक्ल ध्यान के द्वारा संसार का क्षय करते हैं तथा कर्मों के कवच से मुक्त हो, सब दुःखों को दूर करके मुक्ति को प्राप्त होते हैं।[29]

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार जीवन के अन्त में धारण की गई सल्लेखना से पुरुष दुःखों से रहित हो निःश्रेयस् रूप सुख सागर का अनुभव करता है, अहमिन्द्र आदि को पद को पाता है तथा अन्त में मोक्ष सुख को भोगता है।[30] अमृतचन्द्राचार्य ने सल्लेखना को धर्म रूपी धन को साथ ले जाने वाला कहा है।[31] श्री सोमदेवसूरि ने सल्लेखना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सल्लेखना के विना जीवन भर का यम, नियम, स्वाध्याय, तप, पूजा एवं दान निष्फल है। जैसे एक राजा ने बारह वर्ष तक शस्त्र चलाना सीखा किन्तु युद्ध के अवसर पर शस्त्र नहीं चला सका तो उसकी शिक्षा व्यर्थ रही, वैसे ही जो जीवन भर व्रतों का आचरण करता रहा किन्तु अन्त में मोह में पड़ा रहा तो उसका व्रताचरण निष्फल है।[32] लाटी संहिता में कहा गया है कि वे ही श्रावक धन्य हैं, जिनका समाधिमरण निर्विघ्न हो जाता है।[33] उमास्वामि श्रावकाचार, श्रावकाचारसारोद्धार, पुरुषार्थानुशासन, कुन्दकुन्दश्रावकाचार, प. पद्मकृत श्रावकाचार तथा प. दौलतरामकृत क्रियाकोष में सल्लेखना को जीवन भर के तप, श्रुत एव व्रत का फल तथा महार्द्धिक देव एव इन्द्रादिक पदों को

प्राप्त कराने वाला कहा गया है।[34]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनधर्म में सल्लेखना साधक की जीवन भर की साधना का निकष है। यह तप, श्रुत, व्रत आदि का फल है। इसका परिणाम सुगति की प्राप्ति है। क्षु. श्री जिनेन्द्र वर्णी के शब्दों में "सल्लेखना वास्तव में शान्ति के उपासक की आदर्श मृत्यु है। एक सच्चे वीर का महान् पराक्रम है। इससे पहले कि शरीर जवाब दे, वह स्वयं समतापूर्वक उसे जवाब दे देता है और अपनी शान्ति की रक्षा में सावधान रहता हुआ उसी में विलीन हो जाता है।"[35] सल्लेखना जीवन के परम सत्य मरण का हँसते-हँसते वरण है। मृत्यु से निर्भयता का कारण है। पं. सूरजचन्द जी समाधिमरण में कहते हैं-

"मृत्युराज उपकारी जिय को,
तन से तोहि छुड़ावै।
नातर या तन बन्दीगृह में,
पर्‌यो पर्‌यो विललावै।।"

हम सबको समाधिमरण प्राप्त हो, इसी पवित्र भावना के साथ विराम।

सन्दर्भ :

1. सर्वार्थसिद्धि, 7/22
2. व्रतोद्योतनश्रावकाचार, 124
3. वसुनन्दिश्रावकाचार, 211-212
4. सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया या बाहिरा चेव।
   अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे।। – भगवती आराधना, 208
5. पञ्चास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति
6. भगवती आराधना, 70-72
7. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 122-123
8. लाटी संहिता, 232-233
9. पुरुषार्थानुशासन, 99-100

10. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 124-128
11. उपासकाध्ययन, 863
12. भगवती आराधना, 403-404
13. तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छिंतो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो।। वही, 75
14. वही 74 एवं विजयोदया टीका, 74
15. वही, 254
17. भगवती आराधना 255-257
18. धवला 1/1/1
19. चारित्रसार, 154
20. भगवती आराधना, 28
21 तत्त्वार्थ सूत्र, 7/20-22
22. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7/22
23 पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, 176
24. पुरुपार्थानुशासन, 6/113
25. वही, 6/114-116
26 तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7/22
27. सागरधर्मामृत, 8/23
28. भगवती आराधना, 630
29. वही, 1936-1939
30. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 130-131
31. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, 175
32 उपासकाध्ययन, 865-866
33. लाटीसंहिता, 5/235
34. दृष्टव्य- उमास्वामिश्रावकाचार, 463 श्रावकाचारसारोद्धार, 3/151
पुरुपार्थानुशासन, 6/111, कुन्दकुन्दश्रावकाचार 12/4 आदि
35 मुक्तिपथ के बीज

– रीडर, संस्कृत विभाग
एस.डी. कॉलेज मुजफ्फरनगर

पचास वर्ष पूर्व

नयों का विश्लेषण

– पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य

1. प्रमाण-निर्णय

"प्रमाणनयैरधिगमः" यह तत्वार्थसूत्र के पहिले अध्याय का छठा सूत्र है। इसमें पदार्थो के जानने के साधनों का प्रमाण और नयके रूप में उल्लेख किया गया है। आगे चल कर इसी अध्याय में "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" (सू. 9) और "तत्प्रमाणे" (सूत्र 10) इन सूत्रों द्वारा ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान ये पांच भेद ज्ञान के हैं। इनका ही प्रमाण रूप से उल्लेख किया गया है।

जैनधर्म की मान्यता के अनुसार मनुष्य, पशु आदि जगत् के सब प्राणियों में वाह्य शरीर के साथ संवद्ध परिणामी नित्य एवं अदृश्य आत्मनामा वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व है और यह आत्मा प्रत्येक प्राणी में अलग-अलग है, इसके सद्भाव से ही प्राणियों के शरीर में भिन्न-भिन्न तरह के विशिष्ट व्यापार होते रहते हैं और इसके शरीर से अलग होते ही वे सब व्यापार बंद हो जाते हैं।

इस आत्मा में एक ऐसी शक्ति विशेष स्वभावतः जैन-धर्म मानता है, जिसके द्वारा प्राणियों को जगत के पदार्थो का ज्ञान हुआ करता है। इस शक्ति विशेष को उसने आत्मा का 'ज्ञानगुण' नाम दिया है और इसको भी आत्मा में अलग-अलग माना है। साथ ही, इस ज्ञानगुण को ढकने वाली अर्थात् प्राणियों को पदार्थ ज्ञान न होने देने वाली वस्तुविशेष का संबन्ध[1] भी प्रत्येक आत्मा के साथ उसने कबूल किया है और इसे ज्ञानावरणकर्म[2] नाम दिया है इस कर्म के भी पांचो ज्ञानों के प्रतिपक्षी पांच[3] भेद उसने कबूल किये हैं जिनके नाम ये हैं–मतिज्ञानावरण,

श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

जिस ज्ञानावरण कर्म के अभाव से आत्मा के ज्ञानगुण का मतिज्ञानरूप से विकास हो अथवा जो आत्मा के ज्ञानगुण का मतिज्ञान रूप से विकास न होने दे उसे मतिज्ञानावरण कर्म कहते हैं। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण का स्वरूप समझना चाहिये।

इन पांचों ज्ञानावरण कर्मो के अभाव से आत्मा के ज्ञानगुण का क्रम से जो मतिज्ञानादि रूप विकास होता है इस विकास को जैनधर्म में 'ज्ञानलब्धि'[4] नाम दिया गया है। इस ज्ञानलब्धि के द्वारा ही मनुष्य, पशु आदि सभी प्राणियों को पदार्थो का ज्ञान हुआ करता है। और प्राणियों को होने वाले इस प्रकर के पदार्थ ज्ञान को जैनधर्म में 'ज्ञानोपयोग'[5] संज्ञा दी गयी है।

शरीर के अंगभूत बाह्य स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पांच इन्द्रियों और मन की सहायता[6] से प्राणियों को जो पदार्थो का ज्ञान हुआ करता है वह मतिज्ञानोपयोग कहलाता है और इसमें कारणभूत ज्ञानगुण के विकास को 'मतिज्ञानलब्धि' समझना चाहिये अर्थात् ज्ञाता में मतिज्ञान वरण कर्म के अभाव से पैदा हुआ आत्मा के ज्ञानगुण का मतिज्ञान-लब्धिरूप विकास ही पदार्थ का सान्निध्य पाकर पांच इन्द्रियों तथा मन की सहायता से होने वाले पदार्थ ज्ञानरूप मतिज्ञानोपयोग में परिणत हो जाया करता है। इसके इन्द्रियादि निमित्तों की अपेक्षा दश[7] भेद माने गये हैं–स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, नासिकेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, नेत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान।

शब्द-श्रवण[8] पूर्वक श्रोता को मन की[9] सहायता से जो सुने हुए शब्दों का अर्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञानोपयोग कहलाता है और इसमें

कारणभूत ज्ञानगुण के विकास को 'श्रुतज्ञानलब्धि' समझना चहिये अर्थात् श्रोता में श्रुतज्ञानावरणकर्म के अभाव से पैदा हुआ आत्मा के ज्ञानगुण का श्रुतज्ञानलब्धि रूप विकास ही वक्ता के शब्दों को सुनते ही मन की सहायता से होने वाले शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञान में परिणत हो जाया करता है।

ये दोनों मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ऐन्द्रियिक ज्ञान माने गये है; कारण कि मतिज्ञान पूर्वोक्त प्रकार से पांच इन्द्रियों और मन की सहायता से और श्रुतज्ञान अंतरंग इन्द्रिय स्वरूप मन की सहायता से हुआ करता है। श्रुतज्ञान और मानस-प्रत्यक्षरूप **मतिज्ञान** में इतना अन्तर है कि श्रुतज्ञान में श्रोता को वक्ता के शब्द सुनने के बाद उन शब्दों के प्रतिपाद्य अर्थ का ज्ञान मन की सहायता से होता है और मानस-प्रत्यक्ष रूप मतिज्ञान में शब्द-श्रवण की अपेक्षारहित साक्षात् पदार्थ का ही ज्ञान ज्ञाता को मन की सहायता से हुआ करता है। पदार्थज्ञान में शब्दश्रवण को कारण मानने की वजह से ही श्रुतज्ञान को श्रुत नाम दिया गया[11] है।

अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान अतीन्द्रिय माने गये हैं; क्योंकि इन तीनों ज्ञानों में इन्द्रियादि बाह्य निमित्तों की सहायता की अपेक्षा जैनधर्म ने नहीं मानी है। इनके विषय मे जैनधर्म की मान्यता यह है कि ज्ञाता में अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मो के अभाव से पैदा हुआ आत्मा के ज्ञान गुण का क्रम से अवधिज्ञानलब्धि, मनःपर्ययज्ञानलब्धि और केवलज्ञानलब्धि रूप विकास ही पदार्थ का सान्निध्य पाकर बाह्य इन्द्रियादिक की सहायता के बिना ही स्वभावतः अवधिज्ञानोपयोग, मनःपर्ययज्ञानोपयोग और केवलज्ञानोपयोग रूप परिणत हो जाया करता है।

जैनधर्म में इन पांचों प्रकार की ज्ञानलब्धियों और पांचों प्रकार के ज्ञानोपयोगों को प्रमाण माना गया है, इसलिये प्रमाण कहे जाने वाले ज्ञान के उल्लिखित पांच भेद ज्ञानलब्धि और ज्ञानोपयोग दोनो के

समझना चाहिये। चूंकि ज्ञानलब्धि ज्ञानोपयोग में अर्थात् पदार्थज्ञान में कारण है इसलिये पदार्थज्ञानरूप फल की अपेक्षा ज्ञानलब्धि को प्रमाण कहा गया है और ज्ञानोपयोग अर्थात् पदार्थज्ञान होने पर ज्ञाता जाने हुए पदार्थ को इष्ट समझ कर ग्रहण करता है, अनिष्ट समझ कर छोड़ता है तथा इष्टानिष्ट कल्पना के अभाव में जाने हुए पदार्थ को न ग्रहण करता है और न छोड़ता है बल्कि उसके प्रति वह माध्यस्थरूप वृत्ति धारण कर लेता है इसलिये ग्रहण, त्याग और माध्यस्थ वृत्तिरूप फल की अपेक्षा ज्ञानोपयोग को भी प्रमाण माना गया है। जैनधर्म का दर्शन मुख्यरूप से *इस ज्ञानोपयोग को[12] ही प्रमाण मानता है।*

2. प्रमाण के भेद स्वार्थ और पदार्थ[13]

मति आदि ज्ञानावरण—कर्मो के अभाव से होने वाला आत्मा के ज्ञानगुण का मति आदि ज्ञानलब्धिरूप विकास स्व अर्थात् अपने आधारभूत ज्ञाता के ही पदार्थज्ञान रूप ज्ञानोपयोग में कारण है इसी प्रकार पदार्थज्ञान रूप ज्ञानोपयोग भी स्व अर्थात् अपने आधारभूत ज्ञाता की ही ज्ञातपदार्थ में ग्रहण, त्याग और माध्यस्थभावरूप प्रवृत्ति में कारण होता है इसलिये ज्ञानलब्धि और ज्ञानोपयोगरूप दोनों प्रकार के ज्ञानों को स्वार्थप्रमाण कहा गया है लेकिन स्वार्थप्रमाण के अतिरिक्त नाम का भी प्रमाण जैनधर्म में स्वीकार किया गया है वह श्रोता को होने वाले शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञान में कारणभूत वक्ता के मुख से निकले हुए वचनों के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता है अर्थात् वक्ता के मुख से निकले हुए वचन ही श्रोता के शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञान में कारण होने की वजह से पदार्थप्रमाण कहे जाते हैं। चूंकि वचन प्रमाणभूत श्रुतज्ञान में कारण है इसलिये उपचार से वचन को भी प्रमाण मान लिया गयाा है और चूंकि शब्दार्थज्ञानरूप श्रुतज्ञान का आधार श्रोता होता है और उसमें कारणभूत वचनों का उच्चारण का आधारभूत वक्ता से भिन्न श्रोता के ज्ञान में कारण होने की वजह से वचन को परार्थप्रमाण कहते

और कहीं किसी महावाक्य के अवयव होकर भी ये दोनों वाक्य और महावाक्य प्रयुक्त किये जाते हैं। जहां ये स्वतंत्र रूप से अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ होते हैं वहां इनका प्रयोग स्वतंत्र होता है और जहाँ ये अर्थ का प्रतिपादन न करके केवल अर्थ के अंश का प्रतिपादन करते है वहां ये किसी महावाक्य के अवयव होकर प्रयुक्त किये जाते है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पद अर्थ के अंश का ही प्रतिपादक होता है और वाक्य तथा महावाक्य कहीं अर्थ का और कहीं अर्थ के अंश का भी प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार परार्थश्रुत अपने आप दो भेदों में विभक्त हो जाता है–एक अर्थ का प्रतिपादक परार्थश्रुत और दूसरा अर्थ के अंश का प्रतिपादक परार्थश्रुत। इनमें से अर्थ का प्रतिपादक परार्थश्रुत वाक्य और महावाक्य के भेद से दो प्रकार का होता है और अर्थ के अंश का प्रतिपादक पदार्थश्रुत पद, वाक्य और महावाक्य के भेद से तीन प्रकार का समझना चाहिये। इन्हीं दोनों की क्रम से प्रमाण और नय संज्ञा मानी गयी हैं अर्थात् अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्य और महावाक्य प्रमाण-कोटि में और अर्थ के अंश का प्रतिपादन करने वाले पद, वाक्य और महावाक्य नय-कोटि में अन्तर्भूत होते हैं। क्योंकि प्रमाण को सकलादेशी[19 I] अर्थात् अनेक धर्मो-अंशों की पिंडभूत वस्तु को विषय करने वाला और नय को विकलादेशी[19 II] अर्थात् अनेक धर्मो की पिडभूत वस्तु के एक-एक धर्म विषय करने वाला माना गया है। अथवा यों कह सकते हैं कि जो वचन विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करता है वह प्रमाण और जो वचन विवक्षित अर्थ के एक देश का प्रतिपादन करता है वह नय कहलाता है। जैसे, पानी की जरूरत होने पर स्वामी नौकर को आदेश देता है–'पानी लाओ।' नौकर भी इस एक ही वाक्य से अपने स्वामी के अर्थ को समझ कर पानी लाने के लिये चल देता है, इसलिये यह वाक्य प्रमाण वाक्य कहा जायगा और इस वाक्य में प्रयुक्त 'पानी' और 'लाओ' ये दोनों पद स्वतंत्र रूप से अर्थ का प्रतिपादन करने मे समर्थ नहीं हैं, बल्कि अर्थ के एक-एक अंश का प्रतिपादन करने वाले है, इसलिये इन दोनों पदों को नय-पद कहेंगे।

यहां पर इस बात पर भी ध्यान रखने की जरूरत है कि जब तक ये दोनों पद एक वाक्य के अवयव बने रहेंगे तब तक ही नयपद कहे जावेंगे और यदि इनको एक दूसरे पद से अलग कर दिया जाय तो उस हालत में ये प्रमाण रूप तो होंगे ही नहीं क्योंकि ऊपर कहे अनुसार पद प्रमाण रूप नहीं होता है, लेकिन उस स्वतन्त्र हालत में ये दोनों पद नय रूप भी नहीं कहे जावेंगे। कारण कि, अर्थ की अनिश्चितता के सबब ये अर्थ के एक अंशका भी उस हालत में प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

दूसरा उदाहरण महावाक्य का दिया जा सकता है; जैसे स्वामी नौकर को आदेश देता है–"लोटा ले जाओ और पानी लाओं" यहां पर विवक्षित अर्थ दो वाक्यां से प्रकट होता है इसलिये दोनों वाक्यों का समुदाय रूप महावाक्य प्रमाणवाक्य कहा जायेगा और दोनों वाक्य उसके अवयव होने के कारण विवक्षित अर्थ के एक-एक अंश का प्रतिपादन करते हैं इसलिये नय वाक्य कहलावेंगे। यहां पर भी वह बात ध्यान देने लायक है कि जब तक ये दोनों वाक्य एक महावाक्य के अवयव हैं तब तक तो वे नयवाक्य रहेंगे और यदि इन दोनों वाक्यों को एक दूसरे वाक्य से अलग कर दिया जाय तो उस हालत में ये प्रमाण वाक्य रूप हो जावेंगे क्योंकि वाक्य स्वतंत्र रूप से भी प्रयोगार्ह होता है जैसा कि इस उदाहरण में जो वाक्य महावाक्य का अवयव होने के कारण नय वाक्य रूप से दिखलाया गया है वही पहिले उदाहरण में स्वतंत्र वाक्य होने के कारण प्रमाण वाक्य रूप से दिखलाया गया है।

एक और उदाहरण महावाक्य का देखिये–एक विद्वान किसी एक विषय का प्रतिपादक एक ग्रन्थ लिखता है और उस विषय के भिन्न-भिन्न दश अंगो के प्रतिपादक दश अध्याय या विभाग उस ग्रन्थ के कर देता है। यहाँ पर समूचा ग्रंथ तो प्रमाणवाक्य माना जायेगा क्योंकि वह विवक्षित विषय का प्रतिपादक है और उसके अंगभूत दशों अध्यायों को नयवाक्य कोटि में लिया जायगा; क्योंकि वे विवक्षित विषय के एक-एक अंश का प्रतिपादन करते हैं। यहां पर भी जब तक ये दश

अध्याय ग्रन्थ के अवयव रहेंगे तब तक नयवाक्य कहलावेंगे और यदि उन्हें अपने-अपने विषय का प्रतिपादन करने वाले स्वतंत्र-ग्रन्थ से पृथक्-मान लिये जायँ तो उस हालत में ये दशों अध्याय अलग-अलग प्रमाणवाक्य कहलाने लगेंगे।

ज्ञान अपने आप में एक अखंड वस्तु है, इसलिये ज्ञानरूप स्वार्थप्रमाण में नय का विभाग संभव नहीं है। यही सबब है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यज्ञान और केवलज्ञान इन चारों ज्ञानों को प्रमाणरूप ही माना गया है—नयरूप नहीं। लेकिन स्वार्थप्रमाणभूत श्रुतज्ञान में चूंकि वाक्य और महावाक्यरूप परार्थप्रमाण को कारण माना गया है। इसलिये पदार्थप्रमाण में बतलाई गयी नय व्यवस्था की अपेक्षा स्वार्थश्रुत प्रमाणरूप श्रुतज्ञान में भी नय-परिकल्पना संभव है। अतः विवक्षित पदार्थ के अंश का प्रतिपादन करने वाले, वाक्य और महावाक्य के अवयव स्वरूप पद, वाक्य और महावाक्य द्वारा श्रोता को जो अर्थ के अंश का ज्ञान होता है वही नय कहलायेगा। इस तरह पदार्थश्रुत के समान स्वार्थश्रुत को भी प्रमाण और नय के भेद से दो प्रकार का समझना चाहिये।

4. प्रमाण-नयविषयक शंका-समाधान

शंका-अनेक धर्मो की पिंड स्वरूप वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण माना गया है लेकिन इन्द्रियों से होने वाला मतिज्ञानरूप पदार्थज्ञान अनेक धर्मो की पिंड स्वरूप वस्तु का ग्राहक नहीं होता है—नेंत्रों से हमें रूपविशिष्ट ही वस्तु का ज्ञान होता है उस वस्तु में रहने वाले रसादि धर्म इस ज्ञान के विषय नहीं होते है। इसलिये प्रमाण का उल्लिखित लक्षण मतिज्ञान में घटित न होने के कारण मतिज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है बल्कि वस्तु के एक अंश को विषय करने वाले नय का लक्षण घटित होने के कारण इसको नय मानना ही ठीक है। इसी प्रकार दूसरी रसना आदि इन्द्रियों द्वारा होने वाले रसादि ज्ञानों को प्रमाण

मानने में भी यही आपत्ति उपस्थित होती है।

समाधान–नेत्रों से हमें वस्तु के अंशभूत रूप का ज्ञान नहीं होता है बल्कि रूपमुखेन वस्तु का ही ज्ञान होता है। वस्तु चूंकि रूप, रस आदि धर्मों को छोड़ कर कोई स्वतंत्र स्वरूप वाली नहीं है इसलिये वस्तु स्वरूप सभी धर्मो का हमें रूपमुखेन ज्ञान हो जाया करता है–ऐसा समझना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यदि हमें नेत्रों द्वारा सिर्फ वस्तु के अंश या धर्मस्वरूप रूप का ही ज्ञा ा है तो उस के फलस्वरूप होने वाली हमारी ग्रहण, त्याग और माध्यस्थरूप प्रवृत्ति सिर्फ वस्तु के अंश भूत रूप में होना चाहिये रूप विशिष्ट वस्तु में नहीं, लेकिन नेत्रों द्वारा ज्ञान होने पर होने वाली हमारी उल्लिखित प्रवृत्ति रूप विशिष्ट वस्तु में ही हुआ करती है इसलिये यही मानना ठीक है कि हमें नेत्रों द्वारा रूपमुखेन सभी धर्मो की पिंडस्वरूप वस्तु का ही ज्ञान हुआ करता है केवल वस्तु के अंशभूत रूप का नहीं। यही प्रक्रिया दूसरे ऐन्द्रियिक ज्ञानों में भी समझना चाहिये।

शंका–यदि हमें नेत्रों द्वारा रूपमुखेन समस्त धर्मो की पिंडस्वरूप वस्तु का ज्ञान हुआ करता है तो "रूप वस्तु का एक अंश है" ऐसा अनुभव हमें नहीं होना चाहिये, लेकिन होता जरूर है इसलिये यही मानना ठीक है कि नेत्रों से हमें वस्तु के रूप का ही ज्ञान होता है समस्त धर्मो की पिंडस्वरूप वस्तु का नहीं।

समाधान–"रूप अथवा रस आदि वस्तु के अंश या धर्म है" इस प्रकार का ज्ञान हमें नेत्र, रखना आदि इन्द्रियों द्वारा वस्तु का रूप विशिष्ट, रसविशिष्टादि भिन्न-भिन्न तरह का ज्ञान होने के बाद "नेत्रों द्वारा हमें वस्तु का रूपमुखेन ज्ञान होता है रसादिमुखेन नहीं," "रसना के द्वारा हमें वस्तु का रसमुखेन ज्ञान होता है रूपादिमुखेन नहीं" इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक का ज्ञान होने पर अनुमानज्ञान द्वारा हुआ करता है अथवा दूसरे व्यक्तियों द्वारा दिये गये "रूप वस्तु का अंश या धर्म है" इस प्रकार के उपदेश से होने वाले शब्दार्थज्ञान रूप श्रुतज्ञान

द्वारा हुआ करता है, नेत्रों द्वारा नहीं।

शंका–"रूप या रसादि वस्तु के अंश या धर्म है" इस प्रकार का ज्ञान यदि अनुमान द्वारा होता है तो अनुमान भी तो मतिज्ञान का एक भेद है इसलिये अनुमान रूप मतिज्ञान वस्तु के अंश का ग्राहक होने के सबब प्रमाण कोटि में नहीं गिना जाकर नयकोटि में गिना जाना चाहिये, ऐसी हालत में मतिज्ञान को प्रमाण मानने के बारे में पूर्वोक्त आपत्ति जैसी की तैसी बनी रहती है।

समाधान–नेत्रों द्वारा हमें रूपमुखेन वस्तु का ज्ञान हो जाने पर उन दोनों में रहने वाले अवयवावयवीभाव सम्बन्ध का ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ करता है यह संबन्ध वस्तु का अवयव नहीं, बल्कि स्वतंत्र ज्ञान का विषयभूत स्वतंत्र पदार्थ है इसलिये यह अनुमानज्ञान भी वस्तु के अंश को न ग्रहण करके स्वतंत्र वस्तु को ही ग्रहण करता है अर्थात् इस ज्ञान का विषय रूप और उसका आधार वस्तु दोनों से स्वतंत्र है; कारण कि रूप और उसका आधारभूत वस्तु का ज्ञान तो हमें नेत्रों द्वारा पहिले ही हो जाता है सिर्फ उन दोनों के संबन्धका ज्ञान जो नेत्रों द्वारा नहीं होता है वह अनुमान द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार 'रूप या रसादि वस्तुके अंश या धर्म हैं' इस प्रकार के वाक्य को सुन कर जो हमें शब्दार्थ ज्ञानरूप श्रुतज्ञान द्वारा 'रूप या रसादि वस्तु के अंश हैं' इस प्रकार का अवयवावयवी भावसंबन्ध ज्ञान हुआ करता है। वह भी प्रमाण रूप ही समझना चाहिये, नयरूप नहीं। इस विषय को आगे और भी स्पष्ट किया जायेगा।

शंका– गोम्मटसार जीवकांड में बतलाये गये श्रुतज्ञान के 'अर्थ से अर्थान्तर' का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता[20] है इस लक्षण में अनुमानका भी समावेश हो जाता है, इसलिये श्रुतज्ञान से भिन्न अनुमान प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है।

समाधान – हम पहिले बतला आये हैं कि शब्द श्रवणपूर्वक हमें जो

अर्थज्ञान होता है वह श्रुत कहलाता है, अनुमान से जो अर्थज्ञान हमें हुआ करता है उसमें शब्द श्रवण को नियमित कारण नहीं माना गया है। पर्वत में धुआं को देख कर जो हमें अग्नि का ज्ञान हो जाया करता है। वह बिना शब्दों के सुने ही हो जाया करता है। दूसरी बात यह है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान-पूर्वक होता है। इसका अर्थ यह कि वक्ता के मुख से निकले हुए वचनों को सुन कर श्रोता पहिले वचन और अर्थ में विद्यमान वाच्य-वाचक संबन्धका ज्ञान अनुमान द्वारा करता है तब कहीं जाकर शब्द से श्रोताको अर्थज्ञान होता है यदि श्रोताको 'इस शब्द का यह अर्थ है।' इस प्रकार के वाच्यवाचक संबन्धका ज्ञान नहीं होगा तो उसे शब्दों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये अनुमान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है– ऐसा मानना ठीक है, अनुमान और श्रुतज्ञान को एक मानना ठीक नहीं। गोम्मटसार जीवकांड में जो श्रुतज्ञान का लक्षण बतलाने वाली गाथा है उसमें के दो पद महत्त्वपूर्ण[21] है। "अभिणिवोहियपुव्वं" और "सहजं"। इनमें से पहिला पद हमें यह बतलाया है कि श्रुतज्ञान अनुमानज्ञानपूर्वक हुआ करता है। कारण कि अनुमान ज्ञान का ही अपर नाम अभिबोधिक[22] ज्ञान है। दूसरा पद हमें यह बतलाता है कि चूंकि इसमें शब्द कारण[23] पड़ता है इसलिये इसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इस पर विशेष विचार स्वतंत्र लेख द्वारा ही किया जा सकता है।

शंका– परार्थश्रुत में पद, वाक्य और महावाक्य का भेद करके जो वाक्य और महावाक्य को प्रमाण तथा इनके अवयवभूत पद, वाक्य और महावाक्य को नय स्वीकार किया गया है। प्रमाण और नय की यह व्यवस्था "पानी लाओ" इत्यादि लौकिक वाक्यों व महावाक्यों में भले ही संघटित कर दी जावे लेकिन इसका लोक-व्यवहार में कोई खास प्रयोजन नहीं माना जा सकता है। साथ ही वस्तु के स्वरूप-निर्णय में यह व्यवस्था घातक हो सकती है। जैसे वक्ता के समूचे अभिप्रायको प्रकट करने वाला वाक्य यदि प्रमाण मान लिया जाय तो बौद्धों का "वस्तु क्षणिक है" यह

वाक्य अथवा नैयायिकों का "वस्तु नित्य·है" यह वाक्य प्रमाण कोटि में आ जायेगा, जो कि अयुक्त है; कारण कि जैनमान्यता के अनुसार वस्तु न तो केवल नित्य है और न केवल अनित्य ही है बल्कि उभयात्मक है। यही सबब है कि जैन मान्यता के अनुसार वस्तु के एक एक अंश का प्रतिपादन करने वाले ये दोनों वाक्य नय-वाक्य माने गये हैं।

समाधान– जब नय को प्रमाण का अंश माना गया है। तो वचन रूप परार्थ प्रमाण का भी अंश ही नय को मानना होगा, वचनरूप परार्थ प्रमाण वाक्य और महावाक्य ही हो सकता है यह पहिले बतलाया जा चुका है, इसलिये पूर्वोक्त प्रकार वाक्य और महावाक्य के अंशभूत पद, वाक्य और महावाक्य को ही नय मानना ठीक है। लोक-व्यवहार में इसकी उपयोगिता स्पष्ट है क्योंकि पदार्थज्ञान ही से हम वाक्यार्थज्ञान कर सकते हैं और वाक्यार्थज्ञान हमें महावाक्य के अर्थज्ञान में सहायक होता है। 'वस्तु क्षणिक है' "वस्तु नित्य है" इन वाक्यों को परार्थप्रमाण मानने पर जो आपत्ति उपस्थित की गयी है वह ठीक नहीं है; क्योंकि जब वक्ता के विवक्षित अर्थ को प्रगट करने वाला वचन प्रमाण और वक्ता के विवक्षित अर्थ के एक अंश को प्रगट करने वाला वचन नय मान लिया गया है तो इन वाक्यों का प्रयोग करने वाले बौद्ध और नैयायिक के विवक्षित अर्थ को पूर्णरूप से प्रतिपादन करने वाले से वाक्य प्रमाण ही माने जायेंगे; नय नहीं माने जा सकते हैं; कारण बौद्ध और नैयायिक वस्तु को क्रम से क्षणिक और नित्य ही मानते हैं। बौद्धों की दृष्टि में वस्तु के स्वरूप में नित्यत्व और नैयायिकों की दृष्टि में वस्तु के स्वरूप में क्षणिकत्व शामिल नहीं है। इसलिये 'वस्तु क्षणिक है' इस वाक्य से प्रतिपादित क्षणिकत्व बौद्धों का विवक्षित अर्थ ही है, विवक्षित अर्थ का एक अंश नहीं, यही बात नैयायिकों के विषय में समझना चाहिये। इन वाक्यों को नयाभास भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि कि 'जो वस्तु का अंश नहीं हो सकता है उसको वस्तु का अंश मानना' ही नयाभास है; लेकिन नयाभास का यह लक्षण यहां घटित नहीं होता

है क्योंकि यहां तो क्षणिकत्व अथवा नित्यत्व जो वस्तु के अंश हैं उन्हें पूर्ण वस्तु ही मान लिया गया है अर्थात्– यहां पर अंश में अनंशं की कल्पना है, अनंश में अंश की नहीं। इसलिये बौद्ध और नैयायिकों की दृष्टि में क्रम से ये दोनों वाक्य प्रमाण-वाक्य ही हैं, नयवाक्य नहीं। जैन लोग इन लोगों की इस दृष्टि को गलत कहते हैं; क्योंकि इन लोगों ने वस्तु के अंश भूत क्षणिकत्व या नित्यत्व को पूर्ण वस्तु ही मान लिया है इसलिये अंश में अंशी की परिकल्पना होने से इसका प्रतिपादक वाक्य जैनियों की दृष्टि से प्रमाणाभास ही कहा जायगा; तात्पर्य यह है कि यदि वस्तु केवलक्षणिक या केवल नित्य नहीं है तो केवल क्षणिकत्व या केवल नित्यत्व के प्रतिपादक वाक्य प्रमाण न होकर प्रमाणाभास तो माने जा सकते हैं। उनको नय अथवा नयाभास मानना ठीक नहीं है। जैनधर्म में भी 'वस्तु क्षणिक है,' या 'वस्तु नित्य है' ऐसे स्वतंत्र स्वतंत्र वाक्य पाये जाते हैं और जब जिस धर्म की प्रधानता से वर्णन करना जरूरी होता है उसी धर्म के प्रतिपादक वाक्य का प्रयोग जैनी लोग व्यवहार में भी किया करते हैं लेकिन जैन धर्म के ग्रन्थों में या जैनियों द्वारा लोक व्यवहार में प्रयुक्त इन वाक्यों को भी – यदि ये अलग-अलग प्रयुक्त किये गये हैं– तो प्रमाण-वाक्य ही कहा जायगा नय वाक्य नहीं; कारण कि इन वाक्यों द्वारा एक धर्ममुखेन वस्तुका ही प्रतिपादन होता है। जिस प्रकार नेत्रों द्वारा रूपमुखेन वस्तुका ही बोध होने की वजह से उस ज्ञान को प्रमाण माना गया है उसी प्रकार इन वाक्यों द्वारा एक धर्ममुखेन वस्तु का ही प्रतिपादन होने की वजह से उन्हें भी प्रमाण-वाक्य ही मानना ठीक है, नयवाक्य मानना ठीक नहीं हैं। लेकिन जहाँ पर ये दोनों वाक्य वस्तु नित्य है और अनित्य है, इस प्रकार मिलाकर प्रयुक्त किये जाते हैं वहां पर दोनों वाक्यों का समुदाय भी प्रमाण-वाक्य है क्योंकि वह विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करता है और उसके अवयवभूत दोनों वाक्य नय कहे जायेंगे क्योंकि वहां पर उनसे विवक्षित अर्थ के एक अंश का ही प्रतिपादन होता है। तात्पर्य यह है कि 'वस्तु क्षणिक है' और 'वस्तु नित्य है' इन दोनों वाक्यों का स्वतंत्र प्रयोग करने पर यदि ये

वाक्य एक धर्ममुखेन वस्तुका प्रतिपादन करते हैं तो प्रमाण वाक्य माने जावेंगे। यदि इस एक धर्म को वस्तु का अंश न मानकर तन्मात्र ही वस्तु मान ली जाती है और फिर इन वाक्यों का प्रयोग किया जाता है तो यह दोनों वाक्य प्रमाणाभास माने जावेंगे। यदि इन दोनों वाक्यों का सम्मिलित प्रयोग किया जाता है और सम्मिलित होकर प्रयुक्त ये दोनों वाक्य सही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं तो ये वाक्य नय माने जावेंगे। यदि सम्मिलित होकर भी ये दोनों वाक्य गलत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं तो नयाभास कहे जावेंगे। जैसे "द्रव्यदृष्टि से वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टि से वस्तु अनित्य है, यह तो नय है और पर्याय दृष्टि से वस्तु नित्य है तथा द्रव्य दृष्टि से वस्तु अनित्य है, यह नयाभास माना जायेगा इसीलिए परार्थ श्रुतका विवेचन करते समय विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्य और महावाक्य को प्रमाण और विवक्षित अर्थ के एक अंश का प्रतिपादन करने वाले, वाक्य और महावाक्य के अंगभूत पद वाक्य और महावाक्य को नय मानकर जो इनका समन्वय किया गया है वह वस्तु व्यवस्था के लिए घातक नहीं, बल्कि अधिक उपयोगी है।

शंका – जिस प्रकार दो पदों का समुदाय वाक्य और दो वाक्यों का अथवा दो महावाक्यों का समुदाय महावाक्य होता है और इनके अवयव मानकर पद, वाक्य और महावाक्यों को नय वाक्य मान लिया गया है उसी प्रकार दो ज्ञानों के समुदाय को एक महा ज्ञान मानकर उसके अंश भूत एक-एक ज्ञान को नय ज्ञान भी माना जा सकता है, इसलिये स्वार्थ प्रमाण स्वरूप मतिज्ञानादिक में भी नयकल्पना मानना चाहिये।

समाधान – जिस तरह दो आदि पदों अथवा दो आदि वाक्यों या दो आदि महावाक्यों का समुदाय अनुभवगम्य है उसी प्रकार दो आदि ज्ञानों का समुदाय अनुभव गम्य नहीं है हमें नेत्रों से होने वाले रूप विशिष्ट वस्तु के ज्ञान और रसना से होने वाले रसविशिष्ट वस्तु के ज्ञान का समुदाय रूप से कभी भी अनुभव नहीं होता हैं। इसलिये स्वार्थ प्रमाण स्वरूप मतिज्ञानादि चार ज्ञानों में नय-परिकल्पना किसी भी हालत

में नहीं बन सकती है। इसलिये ये चारों ज्ञान प्रमाण रूप ही हैं। केवल श्रुतज्ञान में ही पूर्वोक्त प्रकार से प्रमाण और नयका भेद हो सकता है। सर्वार्थसिद्धिग्रंथ में "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्र की व्याख्या करते समय लिखी गयी–

"प्रमाणंद्विविधं स्वार्थं परार्थं च, तत्र स्वार्थप्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्, श्रुतं पुनः स्वार्थ भवति परार्थं च। ज्ञानात्म स्वार्थवचनात्मकं परार्थम् तद्विकल्पा नयाः" इन पंक्तियों का यही अभिप्राय है।

सन्दर्भ

1. "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः"। सू. 2
2. "प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः" आद्यो ज्ञानदर्शनावरण............" सूत्र 3-4।।
3. "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्"।। 6।। (तत्वार्थ सूत्र 8 अध्यास)
4. 5 "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" अ. 2 सूत्र 18 (तत्वार्थ सूत्र) यहां पर ज्ञान को ही भाव नाम दिया गया है और उसे इन्द्रिय मान कर उसके लब्धि और उपयोग दो भेद मान लिये गये हैं। यद्यपि यह सूत्र सिर्फ इन्द्रियों से होने वाले मतिज्ञान के बारे में लब्धि और उपयोग की प्रक्रिया को बतलाया है परन्तु यह लब्धि और उपयोग की प्रक्रिया पांचों ज्ञानों समान समझना चाहिये।
6. "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" तत्वार्थसूत्र अ. 1 सू. 14
7. "मतिः स्मृति सञ्ज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" –तत्वार्थसूत्र अ. 1 सू. 13 यहां पर मति शब्द से स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि 6 भेदों का तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान का ग्रहण करना चाहिये।
8. "श्रुतं मतिपूर्वम्............"। –तत्वार्थसूत्र अ. 1 सू. 10
9. यहां पर 'मति' शब्द से शब्दश्रवण अर्थात् कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ही ग्रहण किया गया है।
10. "श्रुतमनिन्द्रियस्य"। –तत्वार्थसूत्र अ. 2 सू. 21
11. "..............सद्दजं पहुमं"। –गोम्मट. जीवकांड गाथा 314
12. "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्"। –परीक्षा 1-1
13. "प्रमाणं द्विविधं स्वार्थ परार्थ च"। –सर्वार्थसिद्धि 1-6
14 (i, ii). "अधिगम हेतुद्विविधः स्वाधिगमहेतु. पराधिगम-हेतुश्च, स्वाधिगम

हेतुर्ज्ञानात्मकः; पराधिगमहेतुर्वचनात्मकः" –(राजबर्तिक) 1-6। "ज्ञानात्मकं स्वार्थ वचनात्मकं परार्थम्" (सर्वार्थसिद्धि) 1-6।

15. "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः" परीक्षा. 3-99
इसमें आदि शब्द से अंगुलि, लेख आदि को ही ग्रहण किया गया है तथा आगम–शब्द से श्रुतज्ञान अर्थ लिया गया है।
16. "सुप्तिङन्तं पदम्" 1/4/14–पाणिनि कृत अष्टाध्यायी
17. "पदानां परस्परसापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्"। –अष्टसहस्त्री पृष्ठ 285 पंक्ति 1
18. "वाक्योच्चयो महावाक्यम्" (साहित्यदर्पण परिच्छेद 2 श्लोक 1 का चरण 3) यहां पर "वाक्योच्चयः" पद का विशेषण "योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः" इस श्लोक की टीका में दिया गया है तब महावाक्य का लक्षण वाक्य इस प्रकार हो जाता है– "परस्परसापेक्षाणां वाक्यानां निरपेक्षसमुदायो महावाक्यम्"।
गोम्मटसार जीवकाँड में श्रुतज्ञान के जो 20 भेद गिनाये हैं इनमें अक्षर, पद और संघात अर्थात् वाक्य के बाद जो भेद गिनाये गये है उन सब को महावाक्य में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये। कारण कि हमने मूल मे स्पष्ट किया है कि वाक्यों के समूह की तरह महावाक्यों के समूह को भी महावाक्य ही कहते हैं।
19. (i, ii). "............प्रमाणमनेकधर्मधर्मिस्वभावं सकलमादिशति"..........."नयोधर्ममात्रं वा विकलमादिशति"। (तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ 118 पंक्ति 10, 11 "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्र की व्याख्या) समुदाय-विषय प्रमाणमवयवविषया नया इति "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति" –तत्वार्थराज. 1-6
20. "अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।" – जीवकॉड, गाथा 314
21. "अभिणिवोहिय पुव्वं णियमेणि ह सद्दनं पहुमं" जीवकांड, गाथा 314 (उत्तरार्ध)
22. मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्र में अनुमान ज्ञान को ही अभिनिबोध संज्ञा दी गई है।
23. तत्वार्थसूत्र और गोम्मटसार जीवकांड में जो श्रुतज्ञान के भेद बदलाये गये हैं उनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।
"श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम्" त० अ० 1 सूत्र 20
"पज्जायक्खरपद संघादंपडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं चय पांहुडयं वत्थु पुव्वं च।।316।।"
– गोम्मटसार जीवकांड

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य में वर्णित तीर्थंकर पार्श्वनाथ चरित

– डॉ. हुकम चंद जैन

तीर्थकर साहित्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य में लिखे जाते रहे हैं। 24 तीर्थंकरों के चरित साहित्य इन तीनों भाषाओं में प्रमुख रूप से मिलते हैं। न केवल इन भाषाओं में बल्कि अन्य भाषाओं में भी मिलते रहे हैं। 24 तीर्थंकरों में से केवल 23वें तीर्थकर पार्श्वनाथ के बारे में वर्णित पर ही शोध पत्र तैयार किया जा रहा है। तीर्थंकर के चरित वर्णन के पूर्व तीर्थकर का अर्थ जान लेना आवश्यक है।

संसार सागर को स्वयं पार करने वाले तथा दूसरों को भी पार करवाने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं।[1] रत्नत्रयात्मक मोक्ष मार्ग को प्ररूपित करते हैं, वह तीर्थंकर है। जो समस्त लोगों का अद्वितीय नाथ है वह तीर्थकर हैं। जैन लक्षणावली में तीर्थकर के स्वरूप के बारे में कहा गया है जो क्रोध आदि कषायों के उच्छेदक केवलज्ञान से सम्पन्न संसार समुद्र के पारंगत उत्तम पंचगति को प्राप्त एवं सिद्धि पथ के उपदेशक हैं, वे तीर्थकर कहलाते हैं।[2] तीर्थंकरों के स्वरूप को जानने के बाद भगवान पार्श्वनाथ के चरित का वर्णन किया जा रहा है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा साहित्य में प्रथम शताब्दी से आज तक तीर्थकर चरित लिखे जाते रहे हैं। संस्कृत भाषा में लिखा जाने वाला वादिराज का पार्श्वनाथ चरित है।

पार्श्वनाथ चरित - महाकवि वादिराज ने संस्कृत भाषा में 23वें तीर्थकर पार्श्वनाथ चरित लिखा है। यह ग्रंथ 11वीं शताब्दी में लिखा गया था। इसमें 12 सर्ग हैं। संस्कृत भाषा साहित्य में वर्णित यह काव्य मरुभूति एवं कमठ के जन्म-जन्मान्तर के बदले की भावना दर्शायी गई है। कमठ बार-बार मरुभूति से बदला लेता है और अंत में दुर्गति को प्राप्त करता है। इस काव्य के पूर्व जिनसेन ने नवीं शताब्दी में

पाश्र्वाभ्युदय की रचना की थी किन्तु इस चरित को अत्यंत संक्षेप में वर्णित किया है। समग्र जीवन की कथावस्तु यहां नहीं आ पायी है। इसमें 4 सर्ग है तथा 364 श्लोक हैं। आचार्य जिनसेन के समय मेघदूत का क्या स्वरूप था, यह जानने के लिये पाश्र्वाभ्युदय का अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें पाश्र्वनाथ के अनेक जन्म-जन्मान्तरों का समावेश नहीं हो सका है। अरविन्द द्वारा बहिष्कृत कमठ सिंधु तट पर जाकर तपस्या करने लगता है। कमठ का छोटा भाई मरुभूति भातृ प्रेम के कारण इसके पास जाता है। किन्तु क्रोधवश कमठ उसको मार डालता है। अनेक जन्मों तक यही चलता रहता है। अंत में मरुभूति पाश्र्वनाथ बनते हैं। कमठ उनकी तपस्या में अनेक उपसर्ग पहुँचाता है। अंत में कमठ रूप शम्बर क्षमा मांगता है। इस काव्य में शांत रस की पराकाष्ठा दिखाई देती है।[3]

पाश्र्वनाथ चरित - संस्कृत भाषा में रचित माणिक्य चन्द्र सूरि ने 12 वीं शताब्दी में लिखा है। यह 10 सर्गात्मक है। अनेक रसों के साथ मुख्य रस शांत ही दिखाई देता है। काव्य अनुष्टुप छंद में लिखा गया है। सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन किये गये हैं। उनमें शार्दूलविक्रीडित, मालिनी आदि छंद हैं। यह काव्य अभी तक अप्रकाशित है। इसकी ताड़पत्रीय शांतिनाथ भण्डार खम्भात में हैं।[4] अप्रकाशित होने के कारण कथावस्तु के बारे में जानकारी नहीं है।

पाश्र्वनाथ चरित - इस महाकाव्य को 13वीं शताब्दी में लिखा है। प्रथम से तृतीय सर्ग तक तीन भवों का वर्णन चार सर्ग तक जीवनचर्या, विहार, दीक्षा, केवल ज्ञान, निर्वाण प्राप्ति का वर्णन किया गया है। सर्गान्त में इसे महाकाव्य कहा गया है।[5] यह काव्य वैराग्य भावना से ओत-प्रोत है। इसलिये शांत रस प्रधान है। अनुष्टुप छंद में रचना की गई है। कुछ लोग इसे पौराणिक काव्य भी मानते हैं, क्योंकि पुराण के अनुरूप अलौकिक एवं चमत्कारिक घटनाएं प्रस्तुत काव्य में दी गई हैं।

पाश्र्वनाथ पुराण - यह 23 सर्गों से युक्त है। सकल कीर्ति ने इसे

संस्कृत भाषा में लिखा है। 14-15वीं शताब्दी में रचित इस काव्य में कथा का प्रारंभ वायुभूति के जीवन के प्रारम्भ से होता है। वायुभूति का जीव ही अनेक जन्मों में की गई साधना के द्वारा पार्श्वनाथ तीर्थकर होकर निर्वाण प्राप्त करता है।

इस प्रकार 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अलावा अन्य तीर्थकर पर भी संस्कृत भाषा में अजितनाथ पुराण, शांतिनाथ चरित, मल्लिनाथ चरित, नेमिनाथ महाकाव्य, वर्द्धमान चरित, महावीर चरित लिखे गये।

पारसणाहचरियं - देवप्रभ सूरि द्वारा रचित प्राकृत भाषा में लिखित गद्य पद्यात्मक ग्रंथ है। इसमें गोवर्द्धन कृष्ण के वंशज वीर श्रेष्ठी की प्रेरणा से इस चरित ग्रंथ की रचना 11वीं शताब्दी में की थी।[6] यह कथावस्तु 5 प्रस्तावों में विभक्त है।[7] प्रथम प्रस्ताव में पार्श्वनाथ के पूर्वभवों में से दो भवों का वर्णन मिलता है। प्रथम भव में पार्श्वनाथ मंत्री मरुभूति थे। उनका भाई कमठ था। इस प्रकार पांच प्रस्तावों में सर्प, भील, सिंह, मेघमाली देवों के रूप में प्रतिशोध लेता है तथा पार्श्वनाथ केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।[8] इस चरित काव्य में विवाहोत्सव का सजीव वर्णन है। पद्य की अपेक्षा गद्यांश अत्यंत श्लिष्ठ है। विभत्स एवं शांत रस का सुन्दर निरूपण है। पंचम प्रस्ताव में चण्ड सिंह एवं भागुरायण का संवाद अत्यंत सुन्दर है।[9] पार्श्वनाथ के अलावा महावीर चरियं, सुपासनाहचरियं आदि प्राकृत चरित साहित्य लिखे गये। स्वतंत्र चरित साहित्य के अलावा अन्य कथा ग्रन्थों में भी पार्श्वनाथ के संदर्भ स्तुति रूप में मिलते हैं। संस्कृत, प्राकृत भाषा के बाद अपभ्रंश भाषा में भी तीर्थकरों में पार्श्वनाथ चरित पर काव्य लिखा गया।

पारसणाह चरिउ - इसे पद्‌म कीर्ति ने 9वीं, 10वीं शताब्दी में लिखा है। इसमें 18 संधि, 310 कडवक है।[10] इसमें में कवि ने परम्परागत कथानकों को ही अपनाया है। प्रथम संधि से 18 संधि में कमठ द्वारा मरुभूति पत्नी के साथ अनुचित व्यवहार, राजा के द्वारा कमठ का नगर

निर्वासन, कमठ का सर्प, सिंह, भील आदि द्वारा बदला लेना। अष्टम संधि से पार्श्वनाथ का वर्णन प्रारम्भ होता है। अष्टम से अष्टादश संधि तक द्वयसेन और वामा के गर्भरूप पार्श्वनाथ की उत्पत्ति, यवनराज के साथ पार्श्वनाथ का युद्ध, यवनराज का बंदी बनाया जाना, कुमार पार्श्व के द्वारा कमठ के जीव ब्राह्मण कुलोत्पन्न, मिथ्या तप से अलग होने की सलाह, तपस्या में लीन पार्श्वकुमार का असुरेन्द्र कमठ के जीव द्वारा उपसर्ग, नागराज द्वारा पार्श्वनाथ की रक्षा, केवल ज्ञानोत्पत्ति, असुरेन्द्र और पार्श्वनाथ की शरण में जाना एवं समवशरण का विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ में जैन सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन है। काव्य की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

पासणाह चरिउ – देवदत्त द्वारा रचित काव्य है किन्तु डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने इसका नाम मात्र ही उल्लेख किया है। इस कृति का परिचय उपलब्ध नहीं है।[11]

पासणाह चरिउ – यह विबुध श्रीधर रचित है। अपभ्रंश भाषा में लिखित पौराणिक महाकाव्य है। दूसरी कथावस्तु 12 संधियों में विभक्त है। पार्श्व की कथावस्तु परम्परागत ही है। इसकी रचना 1123 ई. में मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी रविवार को हुई थी। काव्य की दृष्टि से यह उच्च कोटि की रचना है। इसमें नदियों, नगरों आदि का भौगोलिक वर्णन है। भाषा सरस एवं अलंकारिक होने के कारण काव्य अत्यन्त रोचक बन पड़ा है।[17]

पार्श्वनाथ चरित – इस काव्य को 12वीं शताब्दी में विनयचंद सूरी ने लिखा है। यह एक महाकाव्य है। इसका कथानक भी परम्परायुक्त है। कोई भी मौलिक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन नहीं हुआ है। धार्मिक विचारों के प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन धार्मिक विचारों के प्रतिपादन के स्वरूप अनेक अवान्तर कथाओं का समावेश है। अभी तक प्रकाशित नहीं होने के कारण अवान्तर कथाओं का पता नहीं चल पाया है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां हेमचन्द्राचार्य ज्ञान मन्दिर

पाटन में है।[13] यह छः सर्गों में लिखा गया महाकाव्य है। इसके तीन सर्गों में दान, शील, तप और भावना का महत्व भी दर्शाया गया है। इसमें अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया गया है। भाषा प्रवाहयुक्त एवं उसमें अनुप्रास की झंकृति दिखाई पड़ती है।

पार्श्वनाथ चरित – यह सर्वानंद सूरि द्वारा रचित संस्कृत भाषा में लिखा गया काव्य है। इसमें 5 सर्ग हैं। इसकी एक मात्र ताड़पत्रीय मिली है। वह भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। प्रारंभ के 156 पृष्ठ लुप्त हैं।[14] कुल 354 पृष्ठ हैं। इसका रचनाकाल 1234 ई. माना जाता है।[15] कथावस्तु के बारे में कोई उल्लेख नहीं है।

पार्श्वनाथ चरित

यह आठ सर्गों का महाकाव्य है। इसके प्रत्येक सर्ग भवांकित लिखा गया है।[16] सर्गों के नाम भी वर्ण्य विषय के नाम पर लिखे गये हैं। कथानक परम्परागत हैं। कवि ने इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया है।

पासणाह चरिउ – देवचन्द्र द्वारा रचित इस काव्य में 11 संधि और 202 कड़वक हैं। इसमें भगवान पार्श्व के पूर्वभवों के साथ उनको जीवन पर प्रकाश डाला है। यह अभी तक अप्रकाशित है। यह 1492 ई. की रचना है। इसकी एक प्रति सरस्वती भवन नागौर में है।[17]

पासणाह चरिउ – रइधू ग्रंथावली में पासणाहचरिउ ग्रंथ भी मिलता है। रइधू ने इसे 15वीं शताब्दी में लिखा है। यह ग्रंथ सात संधियों में विभक्त है। रइधू की समस्त कृतियों में यह कृति अत्यन्त श्रेष्ठ, सरल एवं रुचिकर है। पार्श्वनाथ चरित वर्णन के साथ तत्कालीन सभ्यता संस्कृति, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्थिति का पता चलता है। डॉ. राजाराम जी जैन ने इस पर शोध कार्य किया है। इन ग्रंथों के अलावा रिट्ठणेमिचरिउ, वड्डमाणचरिउ, चंदप्पहचरिउ, णेमिणाहचरिउ, संभवनाहचरिउ, शांतिणाहचरिउ आदि ग्रंथ लिखे गये। इसके अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी तीर्थकर साहित्य लिखे गये हैं।

तीर्थकर चरित में दया, क्षमा, अहिंसा, संयम, शील, तप आदि मानवीय गुणों के कारण प्राणी संरक्षण के भाव उत्पन्न हुए हैं जिनके कारण तीर्थंकर कर्म का बंधकर निर्वाण प्राप्त किया है। मानव तो ओर आसानी से इन गुणों को ग्रहण कर अपना उद्धार कर सकता है।

सह आचार्य एवं अध्यक्ष
जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग
सु.वि.वि. उदयपुर (राज.)

सदर्भः

1. वर्णी जिनेन्द्र जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग-2, पृ. 371
2. जैन लक्षणावली, भाग-2, पृ. 494
3. जैन, जयकुमार, वादिराज कृत पार्श्व चरित का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 49
4. वही, पृ. 56
5. इतिश्री कालिकाचार्य सन्तानीय श्री भावदेव सूरि विरचिते श्री पार्श्वनाथ
6. वीर सुएण य जसदेव सेट्ठिणा पारसणाह चरिहं, पृ. 503
7. जिन रत्न कोश, पृ. 244
8. जैन, जयकुमार, वादिराज कृत पार्श्वनाथ चरित का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 53-54
9. शास्त्री, नेमिचंनद्र, प्राकृत भाषा सहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 354
10. अठारह संधि एउ पुराणु, ते सट्ठि पुराणे महापुराण, पासणाहचरिउ 10/20
11. शास्त्री, देवेन्द्र कुमार, अपभ्रंश साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, पृ.56
12. जैन, जयकुमार, वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 54
13. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ.121
14. वही, पृ. 122
15. जिनरत्न कोश, पृ. 245
16. सघवी पाडा भण्डार, पाटन सं. 27
17. शास्त्री, परमानंद, अपभ्रंश भाषा पासचरिउ और कविवर देवचन्द्र, लेख, अनेकान्त वर्ष 11, किरण 4-5 जून-जूलाई 1952

जैन परम्परा में भक्ति की अवधारणा

– डॉ. अशोक कुमार जैन

जैन परम्परा में ज्ञान की प्रधानता के साथ भक्ति का भी प्रमुख स्थान रहा है। आचार्य समन्तभद्र उसी को सुश्रद्धा कहते हैं जो ज्ञानपूर्वक की गई हो। उनके अनुसार ज्ञान के बल पर ही श्रद्धा सुश्रद्धा बन जाती है, अन्यथा वह अन्ध-श्रद्धा भर रह जाती है। उन्होंने ही दूसरे स्थान पर लिखा है- जिस प्रकार पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा स्वर्ण रूप हो जाता है, उसी प्रकार भगवान की भक्ति से सामान्य ज्ञान केवलज्ञान हो जाता है।[1]

भक्ति का अर्थ - भ्वादिगणीय 'भज् सेवायाम्' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। 'भक्ति' का अर्थ है भाव की विशुद्धि से युक्त अनुराग। देव, गुरु या धर्म आदि में होने वाले विशुद्ध प्रेम या अनुराग को ही भक्ति कहा जाता है। पूज्यपाद आचार्य ने 'भक्ति' की व्याख्या में लिखा है - अर्हदाचार्येषु बहुश्रतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः अर्थात् अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, बहुश्रुत, जिन-प्रवचन आदि में होने वाले विशुद्ध प्रेम, अनुराग को भक्ति कहते हैं।

भगवती आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि के अनुसार - 'अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।' आचार्य सोमदेव ने लिखा है-

जिने जिनागमेसूरौतपः श्रुतपरायणे।
सद्भाव शुद्धि सम्पन्नोऽनुरागो भक्ति रुच्यते।।

अर्थात् जिन, जिनगाम, तप और श्रुत में परायण आचार्य में सद्भाव विशुद्धि से सम्पन्न अनुराग भक्ति कहलाता है।

भक्ति शब्द से अनुराग, प्रीति, रुचि, श्रद्धान और सम्यक्त्व भी सुने जाते हैं। जहां-जहां मनुष्यों की प्रीति होती है, श्रद्धा भी वहीं देखी जाती

है और जहां-जहां श्रद्धा होती है, मन भी वहीं स्थिर हो जाता है। आचार्य श्री पूज्यपाद ने लिखा है-

यत्रैवाहितधीः पुंसः, श्रद्धा तत्रैव जायते।।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्तं तत्रैव लीयते।।

– समाधि शतक श्लोक 15

आचार्य नरेन्द्रसेन के अनुसार :-

देवे संघे श्रुते साधौ कल्याणादि महोत्सवैः।
निर्व्याजाराधना ज्ञेया भक्ति र्भव्यार्थसाधिका।।

– सिद्धान्तसार 1,75

दोष रहित जिनदेव, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चार प्रकार का संघ, रत्नत्रयाराधक मुनि तथा गर्भजन्मादि पांच कल्याणकों का महोत्सव इत्यादि प्रसंगों में सम्यग्दृष्टि अन्तःकरण पूर्वक इच्छा और कपट रहित जो आराधना करता है वह उसका भक्ति नामक गुण कहा जाता है। यह गुण भव्य अर्थ का अर्थात् पुण्यफलरूप संपत्ति की प्राप्ति करने वाला है। परिणामों की निर्मलता सें देवादियों पर अनुराग करना भक्ति है।

सम्यग्दर्शन और भक्ति :- मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का प्रमुख स्थान है। उसी के आधार पर जैन धर्म में सिद्धान्त और आचार आदि का विकास हुआ। संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्व के आठ गुण है। आचार्य उमास्वामि ने तत्त्व के यथार्थ श्रद्धान में सम्यग्दर्शन कहा है।[5]

उत्तरवर्ती आचार्यो ने उसकी व्याख्या में देव, शास्त्र गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा, भक्ति या अनुराग के साथ जोड़ा। इससे जन-जीवन की पृष्ठभूमि से वह विशेष रूप से अनुस्यूत हुआ क्योंकि श्रद्धा, भक्ति और अनुराग से अन्तःस्थल में सहजयता सात्विक भावों का उद्भव होता है।

ये भाव जब आमुष्मिक - पारलौकिक या आध्यात्मिक भूमिका से

समायुक्त होकर अपने आराध्य के चरणों में सम्प्रेषित होते है तो संस्तुति या संस्तवन का रूप ले लेते हैं। इसका सार यह है कि भक्ति का उद्गम सम्यक्त्व (श्रद्धा) के मूलस्रोत से होता है जो अन्ततः मोक्षात्मक परम लक्ष्य तक पहुंचाता है। महाकवि वादिराज ने अपने 'एकीभावस्तोत्र' में लिखा है-

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा।
भक्तिनो चेदनवधिसुखावञ्चिका कुञ्चिकेय।।

शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो।
मुक्तिद्वारं परिदृष्ढमहा मोह मुद्रांकपाटम्।।

हे प्रभो! शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र के होने पर भी यदि असीम सुख देने वाली कुंजी स्वरूप तुम्हारी उत्कृष्ट भक्ति नहीं है तो महामोहरूपी ताले से बन्द मोक्षद्वार को मोक्षार्थी कैसे खोल सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण विसुद्धं।।

लिंग पाहुड़ गाथा 40

भक्ति ही मिथ्यात्व रूपी ताले को खोलने के लिए कुंजी (चाबी) की तरह है। जब तक यह भक्ति रूप सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक ज्ञान और चारित्र के रहते हुए भी मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है अर्थात् भक्ति, ज्ञान और चारित्र से भी श्रेष्ठ है।

भक्ति के भेद :-

1. दर्शन भक्ति :- जिनेन्द्र देव ने तत्त्वों में मन की अत्यन्त रुचि को सम्यग्दर्शन कहा है। इस सम्यग्दर्शन के दो, तीन और दस भेद बतलाये हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण के द्वारा सम्यग्दर्शन की पहचान होती है, उसके निःशंकित, निःकांक्षित आदि गुण

हैं। सम्यग्दर्शन भुवनत्रय से पूजित है, तीन प्रकार की मूढ़ता से रहित है। संसार रूपी लता का अन्त करने वाला है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि दर्शन तभी सम्यक् हो सकता है, जब जीव जिनेन्द्र का भक्त हो। उन्होंने जिनेन्द्र-भक्ति का पर्यायवाची माना है - देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति।

आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि हे देव! जिनकी आपके वचनों में एकनिष्ठ श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नहीं है, जो रुचि दुष्कर्म रूपी अंक के समूह को भस्म करने के लिए वज्राग्नि के प्रकाश की तरह निर्मल हैं, वे दुर्बुद्धि कितनी ही तपस्या करें, कितना ही ज्ञानार्जन करें और कितना ही दान दें, फिर भी जन्म-परम्परा का छेदन नहीं कर सकते। और भी आगे लिखते हैं हे नाथ! संसार रूपी समुद्र के लिए सेतुबन्ध के समान, क्रम से उत्पन्न होने वाले रत्नत्रय रूपी वन के विकास के लिए अमृत के मेघ के समान, तीनों लोकों के लिए चिन्तामणि रत्न के समान और कल्याणकारी कमल समूह की उत्पत्ति के लिए तालाब में तुल्य सम्यक्त्वरूपी रत्न को जो पुण्यात्मा हृदय में धारण करता है उसे स्वर्ग और मोक्ष रूप लक्ष्मी की प्राप्ति सुलभ है।[7]

2. ज्ञान भक्ति :- इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान का विषय बहुत थोड़ा है। अवधिज्ञान भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर केवल रूपी पदार्थों को ही विषय करता है। मनःपर्यय का भी विषय बहुत थोड़ा है और वह भी किसी मुनि के हो जाय तो आश्चर्य ही है। केवलज्ञान महान है किन्तु उसकी प्राप्ति इस काल में सुलभ नहीं है। एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो समस्त पदार्थों को विषय करता है और सुलभ भी है। जिसे देवों ने सिर पर धारण किया, गणधरों ने अपने कान का भूषण बनाया, मुनियों ने अपने हृदय में रखा, राजाओं ने जिसका सार ग्रहण किया और विद्याधरों के स्वामियों ने अपने हाथ में, आंखों के सामने और मुख में स्थापित किया वह स्याद्वाद श्रुत रूपी कमल मेरे मानसरूपी हंस की प्रसन्नता के लिए हो। आगम में कहे हुए

तत्वों की मन में भावना करता हुआ मैं मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के पटल को दूर करने वाले, स्वर्ग और मोक्ष नगर का मार्ग बतलाने वाले तथा तीनों लोकों के लिए मंगलकारक जैन आगम को सदा नमस्कार करता हूं।[8]

3. चारित्र भक्ति :- जिसके बिना अभागे मनुष्य के शरीर में पहनाये गये भूषणों की तरह ज्ञान खेद का ही कारण होता है, तथा सम्यक्त्व रत्नरूपी वृक्ष ज्ञान रूपी फल की शोभा को ठीक रीति से धारण नहीं करता और जिसके न होने से बड़े-बड़े तपस्वी भ्रष्ट हो गये। हे देव! संयम, इन्द्रिय निग्रह और ध्यान आदि के आवास उस तुम्हारे चारित्र को मैं नमस्कार करता हूं। जो इच्छित वस्तुओं को देने के लिए चिन्तामणि है, सौन्दर्य और सौभाग्य का घर है, मोक्ष रूपी लक्ष्मी के पाणिग्रहण के लिए कंकण-बंधन है और कुल, बल और आरोग्य का संगम स्थान है अर्थात् तीनों के होने पर ही चारित्र धारण करना संभव होता है, और पूर्वकालीन योगियों ने मोक्ष के लिए जिसे धारण किया था, स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए उस पांच प्रकार के चारित्र को मैं नमस्कार करता हू।[9]

संवर का सातवां साधन चारित्र है। जिसके द्वारा हित का प्राप्ति और अहित का निवारण होता है उसे चारित्र कहते हैं। एक परिभाषा के अनुसार आत्मिक शुद्ध दशा में स्थिर होने का प्रयत्न करना चारित्र है। विशुद्धि की तारतम्यता की अपेक्षा, चारित्र पांच प्रकार का कहा गया है- सामायिक, छेदोस्थापना, परिहाविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथारव्यात।

1. सामायिक :- साम्यभाव में स्थित रहने के लिए समस्त पाप-प्रवृत्तियों का त्याग करना 'सामायिक' चारित्र है।

2. छेदोपस्थापना - गृहीत चारित्र में दोष लगने पर, उनका परिहार कर, मूल रूप में स्थापित होना 'छेदोपस्थापना' चारित्र है।

3. परिहार-विशुद्धि :- विशिष्ट तपश्चर्या से चारित्र को अधिक विशुद्ध करना 'परिहार-विशुद्धि' कहलाती है।

इस चारित्र के प्रकट होने पर इतना हल्कापन बन जाता है कि चलने-फिरने, उठने-बैठने रूपी सभी क्रियाओं को करने के बाद भी किसी जीव का घात नहीं हो पाता। परिहार का अर्थ है 'हिसादिक पापों से निवृत्ति'। इस विशुद्धि के बल से हिंसा का पूर्णतया परिहार हो जाता है अतः इसकी परिहार-विशुद्धि, यह सार्थक संज्ञा है। इस चारित्र का धनी साधु जल में पड़े कमल के पत्तों की तरह पापों से अलिप्त रहता है। यह किसी विशिष्ट साधना सम्पन्न तपस्वी को ही प्राप्त होता है।

4. सूक्ष्म-साम्पराय :- जिस साधक की समस्त कषायें नष्ट हो चुकी हैं, मात्र लोभ कषाय अति सूक्ष्म रूप में शेष रह गयी है तथा जो उसे भी क्षीण करने में तत्पर है, उसके चारित्र को 'सूक्ष्म साम्पराय चारित्र' कहते हैं।

5. यथाख्यात :- समस्त मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर, प्रकट आत्मा के शान्त स्वरूप में रमण करने रूप चारित्र 'यथाख्यात' चारित्र है। इसको वीतराग चारित्र या यथाख्यात चारित्र भी कहते हैं।

यहां यह विशेष ध्यताव्य है कि सामायिक के अतिरिक्त शेष चारों चारित्र सामायिक रूप में ही है परन्तु आचार गुणों की विशेषता होने के कारण उन चार को अलग किया है।

4. अर्हन्त भक्ति :- हे जिनेन्द्र! आपको जन्म से ही अन्तरंग और बहिरंग इन्द्रियों से होने वाला मतिज्ञान, समस्त कथित वस्तुओं को विषय करने वाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है, इस प्रकार आपको स्वतः ही सकल वस्तुओं का ज्ञान है तब पर की सहायता की आपको आवश्यकता ही क्या है? हे देव! ध्यानरूपी प्रकाश के द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकार का फैलाव दूर होने पर जब आपने केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को

धारण किया तो तीनों लोकों ने अपना काम छोड़कर एक नगर की तरह महान उत्सव किया। छत्र लगाऊं या चमर ढोंरु अथवा जिनदेव के चरणों में स्वर्णकमल अर्पित करूं। इस प्रकार जहां इन्द्र स्वयं ही हर्षित सेवा के लिए तत्पर है वहां मैं क्या कहूं। हे देव! तुम सब दोषों से रहित हो, तुम्हारे वचन सुनयरूप हैं- किसी वस्तु के विषय में इतर दृष्टिकोणों का निराकरण न करके विवक्षित दृष्टिकोण से वस्तु का प्रतिपादन करते हैं तथा तुम्हारे द्वारा बतलायी गयी सब विधि प्राणियों के प्रति दया भाव से पूर्ण है। फिर भी लोक यदि तुमसे सन्तुष्ट नहीं होते तो इसका कारण उनका कर्म है। जैसे उल्लू को सूर्य का तेज पसन्द नहीं है किन्तु उसमें सूर्य का दोष नहीं है बल्कि उल्लू के कर्मों का दोष है। हे देव! तुम्हारे चरणों की पूजा के पाद पीठ संसर्ग- मात्र से फूल तीनों लोकों के मस्तक का भूषण बन जाता है अर्थात् उस फूल को सब अपने सिर से लगाते हैं जबकि दूसरों के सिर पर भी रखा हुआ फूल अस्पृश्य माना जाता है। अतः अन्य सूर्य, रुद्रादि देवताओं से तुम्हारी क्या समानता की जावे। हे देव! पहले मिथ्यात्वरूपी गाढ़ अन्धकार से आच्छादित होने के कारण ज्ञानशून्य होकर यह जगत संसार रूपी गढ़े में पड़ा हुआ था। उसका नेत्र-कमल और हृदय-कमल को विकसित करने वाली स्याद्वादरूपी किरणों के द्वारा तुमने ही उद्धार किया है। हे देव! जिसके मन रूपी स्वच्छ सरोवर में तुम्हारे दोनों चरण-कमल विराजमान है उसके पास लक्ष्मी स्वयं आती है तथा स्वर्ग और मोक्ष को यह सरस्वती नियम से उसे वरण करती है।[10]

5. सिद्ध भक्ति :- जिन्होंने अपनी छद्मस्थ अवस्था में मति, श्रुत और अवधिज्ञान के द्वारा सब ज्ञेय तत्वों को विस्तार से जाना, फिर ध्यान रूपी वायु के द्वारा समस्त पाप रूपी धूलि को उड़ाकर केवल ज्ञान प्राप्त किया, फिर इन्द्रादिक के द्वारा किये गये बड़े उत्सव के साथ सर्वत्र विहार करके जीवों का उपकार कियास, तीनों लोकों के ऊपर विराजमान ह वे सिद्ध परमेष्ठी हम सबकी सिद्धि में सहायक हों। मन को दान,

ज्ञान, चारित्र, संयम आदि से युक्त करके और अन्तरंग तथा बहिरंग इन्द्रियों और प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांचों वायुओं का निरोध करके फिर अज्ञान रूपी अन्धकार की परम्परा को नष्ट करने वाले निर्विकल्प ध्यान को करके जो मुक्त हुए उन्हें भी मैं हाथ जोड़ता हूं। इस प्रकार समुद्र, गुफा, तालाब, नदी, पृथ्वी, आकाश, द्वीप, पर्वत, वृक्ष और वन आदि में ध्यान लगाकर जो अतीत काल में मुक्त हो चुके, वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं और भविष्य में मुक्त होंगे, तीनों लोकों के द्वारा स्तुति करने के योग्य वे भव्यशिरोमणि सिद्ध भगवन्त हमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी मंगल को देवें।

6. चैत्य भक्ति :- भवनवासी और व्यन्तरों के निवास स्थानों में, मर्त्यलोक में, सूर्य और देवताओं के श्रेणी विमानों में, स्वर्गलोक में, ज्योतिषी देवों के विमानों में, कुला चलों पर, पाताल लोक तथा गुफाओं में जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी की प्रतिमायें हैं, जिन्हें उन स्थानों में रक्षक अपने मुकुटों में जड़े हुए रत्नरूपी दीपकों से पूजते हैं, मैं साम्राज्य के लिए उन्हें नमस्कार करता हूँ।

7. पञ्चगुरुभक्ति :- समवशरण में विराजमान अर्हन्तों की, मुक्तिरूपी लक्ष्मी से आलिंगित सिद्धों को, समस्त शास्त्रों ने पारगामी आचार्यों को, शब्द शास्त्र में निपुण उपाध्यायों को और संसार रूपी बन्धन का विनाश करने के लिए सदा उद्योग शील, योग का प्रकाश करने वाले और अनुपम गुण वाले साधुओं को क्रिया कर्म में उद्यत मैं नमस्कार करता हूं।[11]

8. शान्ति भक्ति :- संसार के दुःख रूपी अग्नि को शान्त करने वाले और धर्मामृत की वर्षा करके जनता में शान्ति करने वाले तथा मोक्षसुख के विघ्नों को शान्त नष्ट कर देने वाले शान्तिनाथ भगवान शान्ति करें। जो केवल मानसिक संकल्प से होने योग्य पुण्य बन्ध के लिए भी प्रयत्न नहीं करता, उस हताश मनुष्य के मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकते हैं।

9. आचार्य भक्ति :- तत्त्वों के यथार्थ प्रकाश से तृष्णारूपी अन्धकार को दूर कर देने वाला जिनकी चित्तवृत्ति का प्रचार बाह्य बातों में नहीं होता और परिग्रह रूपी समुद्र के उस पार रहता है, तथा शान्ति रूपी समुद्र के इस पार या उस पार रहता है। अर्थात् जिसकी चित्तवृत्ति परिग्रह की भावना से मुक्त हो चुकी है और शान्ति रूपी समुद्र में सदा वास करती है, उन आचार्यों की पूजा विधि में अर्पित की गयी जल की धारा तुम्हारा (हमारा) कल्याण करें।

अमरसेण चरिउ की प्रस्तावना पृ. 23 में लिखा है कि

ते (पय) धण्ण वि तुवतित्थि जंति। ते पाणि सहल पूया-रयति।
ते सोय धण्ण गुणगण-सुणंति। ते णयण धण्ण तव जुइणि यंति।।
सा रसणा तुव गुणलोललुलइ। सो साहु इत्थु तुव पडि चलइ।।
तं वित्तु वि तुव पयपुज्जलग्गु, तुहं णिवसहि तं हिमवउ समग्गु।
तुव णाणकिरणु उज्जोयएण। णट्ठ वि मिच्छय कोसिय सएण।।

– प्रथम परिच्छेद पृ. 75-76

नरदेह पाकर अपने अंगों को पुण्य कार्यों में लगावे। जो पैर तीर्थाटन करते हैं, जो हाथ जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं, जो कान जिनेन्द्र के गुणों को सुनते हैं, जो नेत्र जिनेन्द्र की छवि निहारते हैं, जो रसना जिनेन्द्र का गुण-गान करती है और जिस हृदय में जिनेन्द्रदेव विराजते हैं वे धन्य हैं। उनका होना सार्थक है। धन वही श्रेयस्कर है जो जिनेन्द्र की पाद-पूजा में व्यय होता है। मनुष्य के अंगों और धन की सफलता इसी में है।

भक्ति का प्रयोजनः-

मूलाचार में लिखा है-

अरहंत णमोक्कारो, भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण।। गाथा 75

जो भावपूर्वक अरहंत भगवान को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से छूट जाता है। आगे और भी लिखा है-

भत्तीए जिणवराणां खीयदि जं पुव्वसंजियं कम्मं।। गाथा 78

जिनेन्द्र की भक्ति रूप शुभ भाव से पूर्वसञ्चित कर्मों को क्षय हो जाता है।

भावपाहुड़ में लिखा है-

जिणवर वरणंबुरुहं पणमंति जे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेल्लिमूलं हणंति वरभाव सत्थेण।।153।।

जो भव्य जीव उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में नमस्कार करते हैं वे उस भक्तिमय शुभ शास्त्र के द्वारा संसार रूपी बेल को जड़ से उखाड़ डालते हैं।

धवला में लिखा है-

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, पापसंघातकुंजरं।
शतधा भेदमायाति गिरिवज्रहतो यथा।।6,428

जिस प्रकार बज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से पापसंघात रूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं। और भी लिखा है-

जिनबिम्बदसणेण णिधत्ति णिकाचिदस्सवि।
मिच्छत्तादि कम्म कलाबस्स खयं दंसणादो।।6,427

जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्ति और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप (समूह) का क्षय देखा जाता है।

'आवश्यक निर्युक्ति' में भक्ति के फल की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जिन-भक्ति से पूर्व संचित कर्म क्षीण होते है और आचार्य के नमस्कार से विद्या और मंत्र सिद्ध होते हैं। पुनः जिनेन्द्र की भक्ति से राग द्वेष समाप्त होकर आरोग्य, बोधि और समाधि लाभ होता है[12]

स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, आराधना, सेवा, श्रद्धा आदि सभी भक्ति के ही अनेक रूप हैं।

मरणकण्डिका में लिखा है-

जिनेन्द्र भक्तिरेकापि, निषेद्धुं दुर्गतिं क्षमा।
आसिद्दि - लब्धितो दातुं, सारां सौख्यपरम्पराम्।।778

अकेली जिन भक्ति ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है और मोक्ष प्राप्ति होने तक इन्द्र पद, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती पद और तीर्थङ्कर पद आदि सारभूत अभ्युदय सुख-परम्परा को देने वाली है।

विधिनोप्तस्य शस्यस्य, वृष्टिर्निष्पादका यथा।
तथैवाराधना भक्तिश्चतुरङ्गस्य जायते।।783

जैसे विधि का अर्थात् धान्य उत्पन्न करने के सम्पूर्ण कार्यो का आश्रय कर जमीन में बीज बोने के अनन्तर जल वृष्टि होने से फल की निष्पत्ति होती है वैसे ही अर्हतादि पूज्य पुरुषों की भक्ति करने से ही दर्शन, ज्ञान, तप और चारित्र रूपी फल उत्पन्न होते हैं।

पद्मनन्दि - पञ्चविंशतिका में लिखा है-

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये।।

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां धिक् च गृहाश्रयम्।।6/14,15

जो भव्य प्राणी भक्ति से जिन भगवान का दर्शन, पूजन और स्तुति किया करते हैं वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य बन जाते हैं।

जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न स्तुति ही करते हैं उनका जीवन निष्फल है तथा उनके गृहाश्रम को धिक्कार है।

आत्मज्योतिर्निधिरनवधिर्द्रष्टारानन्दहेतुः।
कर्मक्षोणीपटलपिहितो योऽनवाप्य परेषां।।

हस्ते कुर्वत्यनतिचिरतस्तं भवद् भक्ति भाजः।
स्तोत्रैर्बन्ध प्रकृति परुषों द्धामधात्री खनित्रैः।।

– एकीभाव स्तोत्र-15

भक्ति से परिपूर्ण हृदयशील स्तोत्रकार यहां तक कह देता है कि चित्त की शुद्धि प्रभु भक्ति से ही होती है। पुराणों की मान्यता है कि गंगा नदी हिमालय पर्वत से प्रकट हुई और समुद्र पर्यन्त लम्बी है, इसमें स्नान करने वाला पापरहित हो शुद्ध हो जाता है। इसी बात को लक्ष्यकर स्रोतकार कहते हैं कि प्रभु के अनेकान्त नय को देखकर मेरी भक्ति उत्पन्न हुई है और यह भक्ति तव तक रहेगी जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो जाए तथा यह भक्ति हमेशा प्रभु के चरण कमलों में रहती है।

हम भक्ति के उद्देश्यों को निम्न शीर्षकों में वर्णन कर सकते हैं:-

1. तद्गुणप्राप्ति :- उपासक अपने उपास्य की भक्ति करता है, उनका गुणों का संस्तवन करता है, उसके पीछे केवल उनकी कृपा प्राप्त करना नहीं, अपितु उन जैसा बनने की भावना सम्मिलित रहती है। उसके हृदय में यह अन्तर्निहित रहता है कि वह साधना के द्वारा वैसे गुणों का जो उसके आराध्य में है, पात्र बने। भक्ति एवं स्तवन के साथ वहां आत्प-प्रेरणा का भाव अनुस्यूत रहता है तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है-

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।

यहां भक्त कहता है- मैं मोक्ष मार्ग के नेता, कर्म रूपी पर्वतों के भेत्ता और विश्व तत्त्वों के ज्ञाता को उसके गुणों की प्राप्ति के लिए

वन्दन करता हूं। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रभु में विद्यमान गुणों को अपने में उद्भूत करने के उद्देश्य से उपासक, गुणवान् उपास्य की उपसना करता है।

2. शान्ति-प्राप्ति :- जगत का प्रत्येक प्राणी जन्म, जरा एवं मरण के दुःखों से पीड़ित है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों से ग्रस्त होने से अशान्त है। भव्य जीव संसार के इन जन्ममरणादि कष्टों से मुक्त होकर रागादि विकारों का नाश करके आत्मशान्ति प्राप्त करना चाहता है। जिस मन रूपी मन्दिर में ज्योतिस्वरूप प्रभु विराजमान हैं, प्रकाशमान हैं, उस मन्दिर में विकार रूपी ,अन्धकार को कोई अवकाश नहीं रहता। अतः स्तुतिकार स्तोत्रों की रचना कर प्रभु से आत्मशान्ति की कामना करते हैं। इस दृष्टों से 'स्वयम्भूस्तोत्र' का निम्न श्लोक दृष्टव्य है-

'स्वदोषशान्तया विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद् भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।।'

जिन शान्तिनाथ भगवान ने अपने दोषों की शान्ति करके आत्मशान्ति को प्राप्त किया है और जो शरणागतों के लिए शान्ति के विधाता हैं, वे भगवान् शान्ति जिन मेरे शरण हैं। ऐसे ही श्री शान्ति जिन मेरे भवभ्रमण के क्लेशों की और भयों की अपशान्ति के लिए निमित्त बनें।

पाप-क्षय :- वीतरागदेव के अनन्त ज्ञानादि पवित्र गुणों का स्मरण चित्त (आत्मस्वरूप) को पाप मलों से पवित्र करता है। इसलिए स्तुतिकार पापमुक्ति के उद्देश्य से भी स्तोत्र-रचना करते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने 'स्तुतिविद्या' के प्रारम्भ में स्पष्ट रूप से कहा है स्तुति रूप विद्या की सिद्धि में भली प्रकार संलग्न होने से शुभ परिणामों द्वारा पापों पर विजय प्राप्त होती है और उसी का फल कामस्थान मोक्ष की प्राप्ति है। इसलिए मैं जिनेन्द्रदेव के पद सामीप्य को प्राप्त करके, पापों को जीतने के लिए - मोहादिक पाप कर्मों अथवा हिंसादिक दुष्कृतों पर

विजय प्राप्त करने के लिए स्तुति विद्या की प्रसाधना करता हूं। श्री अर जिन स्तवन में भी लिखा है- 'गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवताद् दुरितासनोदितम्' जिनेश्वर के विषय में जो अल्प गुणों का कीर्तन किया गया है, वह पाप कर्मों के विनाश में समर्थ होवे।

मानतुङ्गाचार्य ने लिखा है-

त्वत्संस्तवेन भव-सन्तति-सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीर-भाजाम्।। भक्तामरस्तोत्र - 7

अर्थात् मानव हृदय में श्री जिनेन्द्रदेव के गुणों का प्रकाश होते ही देहधारी प्राणियों के जन्म जन्मान्तरों से उपार्जित एवं बद्ध पाप-कर्म तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

मुक्ति-प्राप्ति :-

जैनदर्शन के अनुसार जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य है मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है- अष्टविध कर्मों से विमुक्त होकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्म पद को प्राप्त करना। संसारी जीव निरन्तर मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के द्वार से पापास्रव करके कर्म-बन्धन में बंधता रहता है। परिणाम स्वरूप जन्म-जन्मातरों तक चतुर्गतियों में परिभ्रमण करता रहता है। इस अनन्तानन्त संसार की भव-परम्परा को काटने का सबसे सरल एवं सुगम साधन भगवद्-भक्ति है। इसलिए जैन स्तोत्रकारों ने स्तोत्र रचना का प्रमुख उद्देश्य मुक्ति-प्राप्त माना है। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि इस संसार में स्तोता को मोक्ष पथ सुलभ है, स्तोता के अधीन है, अर्थात् जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धापूर्वक स्तुति करके स्तोता सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त करता है और परम्परया मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है तब ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो श्री नमि जिन की स्तुति न करें।

किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रेयसपथे,
स्तुयान्न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम्।।

जैन स्तोत्रों में अनेक स्थलों पर जिन-स्तुति द्वारा कर्मों के विनष्ट होने की चर्चा की गई है। 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' में आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है-

हृदयवर्तिनि त्वयि विभो! शिथिली भवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म बन्धाः।
सद्यो भुजंगम-मया इव मध्य-भाग-
मम्यागते वन शिरनण्डि निचन्दनस्य।।

अर्थात् हे प्रभो! आप अब प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं तब उनके सघन कर्मों के बन्धन क्षण भर में ढीले हो जाते हैं। जैसे वन मयूर के आने पर चन्दन वृक्ष के मध्य भाग में लिपटे हुए भयंकर सर्प तत्काल ढीले पड़ जाते हैं।

सन्दर्भ :

1. रुचं बिभर्ति ना धीर नाथामि स्पष्टवेदनः।
   वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शविदिनः।। आचार्य समन्तभद्र - स्तुति विद्या 60
2. सवार्थसिद्धि में 6/24 का भाष्य
3. उपासकाध्ययन 202
4. संवेओ निव्वेओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती।
   वच्छल अणुकम्पा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते।। लाटी सहिता में उद्धृत 2/18
5. 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' तत्त्वार्थ सूत्र 1/2
6. देवगुरुम्मि य भत्ती साहम्मी य संजुदेसुं अणुरत्तो।
   सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होई जोई सो।। मोक्षपाहुड़ 52
7. ये कुर्वन्तु तपांसि दुर्धराधियो ज्ञानानि सञ्चिन्वतां।
   वित्तं वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिदः।
   एषा येषु न विद्यते तव वचः श्रद्धावधानोद्धुरा।
   दुष्कर्माङ्कुरकुञ्चवज्रदहनाद्योता वदाता रुचिः।।
   संसाराम्बुधिसेतु बन्धमसमप्रारम्भलक्ष्मीवन

प्रोल्लासामृत वारिवाहुमखिलत्रैलोक्य चिन्तामणिम्।।
कल्याणाम्बुजषडसंभवसरः सम्यक्त्वरत्नं कृतौ
यो धत्ते हृदि तस्य नाथ सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियः।। उपासकाध्ययन 461, 462

8. यशस्तिकम्पूगत उपासकाध्ययन, श्लोक 463, 464, 465
9. वही, श्लोक 465-466
10. वही, श्लोक 469-475
11. वही, श्लोक 476-480
12. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 10,11

उपाचार्य - जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय
का. हि. वि. वि., वाराणसी

भक्ति मुक्तिदायिनी

जन्मजीर्णाटवीमध्ये, जनुषान्धस्य मे सती।
सन्मार्गे भगवन्भक्तिः भवतान्मुक्तिदायिनी।।

– क्षत्रचूडामणि, 6/34

जैसे किसी विशाल और पुराने जंगल में मार्ग भ्रष्ट किसी जन्मान्ध पुरुष को किसी प्रकार यथार्थ राह मिल जावे, तो वह अभीष्ट स्थान पाकर बहुत संतुष्ट होता है। उसी प्रकार हे भगवन्! मैं भी सन्मार्ग को भूलकर अनादिकाल से दुःखद संसार में भटक रहा हूँ। अब आपसे यही प्रार्थना है कि आपके प्रसाद से मुझे वह समीचीन भक्ति प्राप्त हो, जिससे मैं मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होकर परम्परया मुक्ति को प्राप्त कर सकूँ।

पाठकीय प्रतिक्रिया

आज ही अनेकांत का जुलाई-दिसंबर 2006 का अंक प्राप्त हुआ। इसमे आपका एक लेख 'मध्यलोक में भोगभूमियाँ - एक अनुचिन्तन' पढने को मिला। इस लेख के संबंध में अत्यन्त विनय के साथ निवेदन कर रहा हूँ। कृपया नीचे लिखे विंदुओं पर विचार कीजिएगा :-

1. पृष्ठ 71 पर आपने सर्वार्थ सिद्धि के ध्वजदंड से सिद्ध लोक को 29 योजन 425 घनुष ऊपर लिखा है। मेरी राय में यह ठीक नहीं है। सर्वार्थ सिद्धि से 12 योजन ऊपर अष्टम पृथ्वी है, जो 8 योजन मोटी है। इसके ऊपर 2 कोस का घनोदधिवलय + 1 कोस का घनवातवलय+ 1575 धनुष का तनुवातवलय है। अर्थात् सर्वार्थ सिद्धि के ध्वजदंड से 21 योजन -425 धनुष ऊपर तो लोकांत है । इस तनुवातवलय के अंतिम 525 धनुष में सिद्ध लोक है। नोट- यह 525 धनुष- छोटे योजन के अनुसार है जबकि तनुवातवलय का 1 कोस, वडे योजन वाला है। अर्थात् तनुवातवलय के 1/3 भाग में सिद्ध लोक है। इसे हमें बड़ा तथा छोटा कोस का अन्तर करेने के लिए 500 से गुणा करना चाहिए। अर्थात् तनुवातवलय के 1/1500 वें भाग में सिद्ध लोक है। **निष्कर्ष-** सर्वार्थसिद्धि के ध्वजदंड से 12 योजन + 8 योजन + 2 कोस + 1 कोस + तनुवातवलय का 1/1500 भाग कम तनुवातवलय = 21 योजन से कुछ कम ऊपर सिद्ध लोक है। संदर्भ- मुख्तार ग्रंथ भाग 1 पृष्ठ 610।

2. पृष्ठ 77 पर लिखा है कि भोगभूमिज जीवों में अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व एवं सासादन दो गुणस्थान होते हैं। मेरी राय में यह ठीक नहीं है। कोई जीव मनुष्यायु का बंध करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर मरण करे, तो उसका जन्म भोगभूमि में ही तो होगा। अतः अपर्याप्त अवस्था में प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ ये तीन गुणस्थान होते हैं। आपने अपर्याप्त भोगभूमिजों के गुणस्थान, तिलोयपण्णत्ति 4/416 के आधार से लिखे हैं। पर इसका अर्थ गलत है। कृपया तिलोयपण्णत्ति के ही 4/424 का अवलोकन करें। भोग पुण्णए.........पुण्णे अर्थ– अपर्याप्त अवस्था में

मिथ्यात्व एवं सासादन गुणस्थानों में कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभलेश्याओं से और चतुर्थ गुणस्थान में कापोतलेश्या के जघन्य अंशो से तथा पर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्वादि चारों गुणस्थानों में तीनों शुभ लेश्याओं से युक्त। यहां अर्थ ठीक किया है अर्थात् अपर्याप्त अवस्था में चतुर्थ गुणस्थान में कापोतलेश्या का जघन्य अंश होता है।

कृपया त्रिलोकसार गाथा 794 भी देंखें। वरदाणदो--ओही-अर्थ– विदेह में सत्पात्र दान के फल से जिन्होंने मनुष्यायु का बंध करने बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है अर्थात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि हुये हैं वे यहाँ तृतीय काल के अंत में जघन्य भोग भूमि में 14 कुलकर हुये थे।

(यह भी विशेष है कि मनुष्यायु का बंध करके, दर्शन मोह की क्षपणा करने वाले, यदि कृतकृत्य वेदक अवस्था में मरण करें तो भोग भूमि में सम्यक्त्व सहित चतुर्थ गुणस्थान में उत्पन्न होते है।)

इन सबसे स्पष्ट है कि भोगभूमिजों के अपर्याप्त दशा में प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ गुणस्थान होते हैं।

3. पृष्ठ 78 पर लिखा है–"कुमानुष द्वीपों में तिर्यच नही पाये जाते हैं"। यह भी ठीक नहीं है। कृपया तिलोयपण्णत्ति 4/2552 को देखने का कष्ट करियेगा। गब्भादो ते मणुवा.....तारुण्णा–अर्थ–वे मनुष्य और तिर्यच, युगल रूप में गर्भ से सुख पूर्वक निकलकर अर्थात् जन्म लेकर समुचित दिनों में यौवन धारण करते हैं (यह वर्णन कुभोगभूमियों का है) आगे गाथा न. 4/2555 भी देखियेगा। इसमें भी तिर्यचों का वर्णन दिया है।

जैन तत्वविद्या (लेखक-मुनि प्रमाण सागर जी) ज्ञानपीठ प्रकाशन पृष्ठ 86-87 में लिखा है–"कुभोगभूमि में सभी मनुष्य और तिर्यच युगल रूप में जन्म लेते हैं। और युगल ही मरते हैं।"

आपका

रतनलाल बैनाड़ा

1/205, प्रोफेसर्स कालोनी, आगरा-282002

समीक्षा

समीक्ष्य कृति : सफर की हमसफर
परिशोध एवं संकलन : डॉ. मूलचन्द जैन
प्रकाशन : प्राच्य श्रमण भारती, 12 ए प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर
साइज एवं पृष्ठ संख्या : डिमाई 23 36/16, 100
मूल्य : रू. 10.00

डॉ० मूलचन्द जैन द्वारा संकलित एवं परिशोधित कृति "सफर की हमसफर" में चालीस लघु किन्तु प्रेरणाप्रद कहानियाँ हैं, जो घर में हों या बाहर, हवाई जहाज में हों या रेलगाड़ी अथवा बस में सब जगह साथ रखकर स्वयं पढ़ने योग्य तथा साथियों/सहयात्रियों को पढ़वाने योग्य हैं। आप इन्हें पढ़कर निश्चित रूप से वाह-वाह कह उठेंगे तथा जिसे पढ़वायेंगे, उससे भी वाह-वाही लूटेंगे। ये कहानियाँ आबाल वृद्ध सभी व्यक्तियों की उदासी एवं बेचैनी मिटाकर चैन तो प्रदान करेंगी ही, सन्मार्ग का भी प्रदर्शन करेंगी।

कहानी संकलन में संकलित कहानी 'क्षमा माँगे किससे' से सुस्पष्ट हो जाता है कि युद्ध में बन्दी बनाकर भी जिसे नहीं जीता जा सकता है, उसे भी क्षमा से जीतना संभव है। 'सासू बनो तो ऐसी' उन सभी सासों को अवश्य पढ़ना चाहिए जो बहू से तो आशा करती हैं कि वह उन्हें माँ माने, पर बहू को बेटी मानकर व्यवहार नहीं करना चाहती हैं। जो बहू-बेटी में अन्तर करके घर को नरक बनाने का स्वयं उपक्रम करती हैं तथा बाद में स्वयं नारकीय दुःखों को अपने ही घर में भोगने को मजबूर होती हैं। 'सात कौड़ी में राज्य' कहानी यह शिक्षा देने में समर्थ है कि यदि लक्ष्य के प्रति दृढ़ निश्चय है तो सफलता अवश्य प्राप्त होगी। 'कहाँ तो राग- कहाँ वैराग्य' में लेखक ने इस भाव को प्रकट किया है कि भले ही मोहनीय कर्म विचित्र नाच नचाने में समर्थ हो किन्तु अदम्य पुरुषार्थ द्वारा तप एवं ध्यान से मोहनीय कर्म से भी छुटकारा पाया जा सकता है। कहानी 'आहारदान का कमाल' एवं 'रात्रि भोजन बिल्कुल नहीं' अपने नाम के अनुरूप कथ्य के प्रभाव को पाठकों पर डालने में समर्थ हैं। 'क्या करने जा रही हो' कहानी बालिकाओं के भ्रूण की हत्यारी माताओं का दिल दहलाकर उन्हें इस महापाप से बचाने की प्रेरणा प्रदान करती है तो 'जरा से परिग्रह का नजारा' कहानी अनायास ही परिग्रह त्याग का

उपदेष्टा बनकर हमारे समक्ष उपस्थित होती है।

'कौन बड़ा' में भाग्य और पुरुषार्थ को एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह-एक दूसरे का पूरक सिद्ध किया गया है तथा भाग्यवादियों को पुरुषार्थ की प्रेरणा दी गई है। जिस प्रकार एक चक्र से रथ की गति संभव नहीं है, उसी प्रकार भाग्य या पुरुषार्थ में किसी एक से काम नहीं चल सकता है। दूसरों की हत्या करके अपना भला चाहने वालों की कैसी दशा होती है, यह बात 'नरक का द्वार' कहानी से आसानी से जानी जा सकती है। कहानी 'साधु कौन' में कहा गया है कि चमत्कार साधु की कसौटी नहीं है अपितु समता, परोपकार, स्वार्थत्याग आदि गुणों के आधार पर साधु को परखना चाहिए। खदिरसार भील के वृत्तान्त पर आश्रित कहानी 'गाड़ी में ब्रेक जीवन में संयम' में बताया गया है कि एक छोटा नियम भी व्यक्ति को महान् बना सकता है।

'मित्र हो तो ऐसा' कहानी का कथ्य है कि मित्र वही है जो एक दूसरे को सन्मार्ग पर लगाने के लिए सम्बोधे। ब्रह्मचर्य के महत्त्व को प्रकट करती है कहानी 'व्रतों में महान् कौन' तथा त्यागपूर्वक ही जीवन चल सकता है। भाव को स्पष्ट करती है कहानी 'त्याग से की काम बनता है'। कहानी '88 का चक्कर' से स्पष्ट होता है कि आशाओं रूपी गड्ढा कभी भरता नहीं है। आशायें तो भस्मासुर के मुख की तरह आगे-आगे बढ़ती ही जाती हैं। अन्तिम कहानी 'माता बहिन सुता पहचानो' उन मनचलों को सन्मार्ग प्रदर्शन का काम करती है जो मौका मिलते ही महिलाओं पर फबतियाँ कसने में माहिर हैं। शेष सभी कहानियों में भी लेखक अपने लक्ष्य में सफल रहा है।

कुल मिलाकर लेखक अपने भावों को पाठकों तक संप्रेषित करने में समर्थ रहा है। इन कहानियाकें की भाषा सरस, सरल, सर्वजनसंवेध एवं कथ्यानुरूप है तथा शैली अत्यन्त प्रभावी है। विश्वास है कि लेखक की लेखनी से ऐसे ही अन्य अनेक कहानी-संकलन प्रसूत होंगे, जो भूली मानवता को राहा दिखा सकेंगे। इस उपयोगी कहानी संकलन की प्रस्तुति के लिए लेखक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

समीक्षक– डॉ० जयकुमार जैन
अध्यक्ष– संस्कृत विभाग
एस०डी० कॉलेज, मुजफ्फरनगर-251001

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अंतर्गत आयकर में छूट